

भारत का इतिहास: आठवीं सदी तक

संपादक मंडल

प्रो. टी.के. वेंकटसुब्रमण्यम
प्रोफ़ेसर (अवकाश प्राप्त),
इतिहास विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. रजनी नंदा मैथ्यू
एसोसिएट प्रोफ़ेसर,
स्कूल ऑफ़ ओपन लर्निंग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. वी.के. जैन
एसोसिएट प्रोफ़ेसर (अवकाश प्राप्त)
इतिहास विभाग
मोतीलाल नेहरू कॉलेज (प्रातः)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. अनीता प्रियदर्शनी
एसोसिएट प्रोफ़ेसर,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

डॉ. विकास कुमार वर्मा
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर,
इतिहास विभाग,
रामजस कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विषय-वस्तु लेखक

डॉ. रजनी नंदा मैथ्यू
एसोसिएट प्रोफेसर,
इतिहास विभाग,
स्कूल ऑफ़ ओपन लर्निंग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. विकास कुमार वर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर,
इतिहास विभाग,
रामजस कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. जी.सी. यादव
रीडर (अवकाश प्राप्त),
इतिहास विभाग,
स्कूल ऑफ़ ओपन लर्निंग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

श्रीमती किरण लूम्बा
पूर्व व्याख्याता,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. नंदिनी सिन्हा कपूर
एसोसिएट प्रोफेसर,
स्कूल ऑफ़ इंटर-डिस्सिप्लिनरी एंड ट्रांस-
डिस्सिप्लिनरी स्टडीज़ (SOITS),
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

डॉ. विश्व मोहन झा
एसोसिएट प्रोफेसर,
इतिहास विभाग,
आत्मा राम सनातन धर्म कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. सोनालिका कौल,
पूर्व असिस्टेंट प्रोफेसर,
इतिहास विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ. रजनी नंदा मैथ्यू,
स्कूल ऑफ़ ओपन लर्निंग, दिल्ली विश्वविद्यालय

अनुक्रम (इकाई II)

पाठ 9

ईसा पूर्व छठी से चौथी सदी में विकास: नए धार्मिक आंदोलन
किरण लूम्बा

पाठ 10

आरंभिक राज्यों और नगरों का उदय
किरण लूम्बा

पाठ 11

आरंभिक राज्यों का गठन
डॉ. रजनी नंदा मैथ्यू

पाठ 12

मौर्य साम्राज्य
डॉ. रजनी नंदा मैथ्यू और जी. सी. यादव

पाठ 13

मौर्योत्तरकालीन प्रतिमान (200 ईसा पूर्व से 300 ईस्वी तक)
डॉ. सोनालिका कौल

पाठ 14

संगम युग
डॉ. विकास कुमार वर्मा

पाठ -15

गुप्त और उनके समकालीन: राज्य और प्रशासकीय संस्थाएँ
डॉ. नंदिनी सिन्हा कपूर

पाठ -16

आरंभिक मध्यकाल की ओर: राजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था, समाज और संस्कृति में परिवर्तन
विशेष रूप से पल्लवों, चालुक्यों और वर्द्धनों के संदर्भ में
डॉ. विश्व मोहन झा

इकाई II

इकाई I में हमने भारतीय प्राचीन इतिहास को समझाने में मददगार विभिन्न प्रकार के स्रोतों के बारे में सीखा। आगे हमने भारतीय उपमहाद्वीप की विविध प्रागैतिहासिक और आद्य-ऐतिहासिक संस्कृतियों के साथ-साथ हड़प्पा सभ्यता के बारे में भी जाना। साथ ही उस भाग में हमने आर्यों के मूल-स्थान और वैदिक संस्कृति के विविध पहलुओं का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया।

इकाई II में कुल आठ पाठ हैं। पहला पाठ छठी सदी में उत्तर-पश्चिमी भारत की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों का लेखा-जोखा है। साथ-साथ यह इस दौरान उभरे बौद्ध और जैन विचारों पर भी प्रकाश डालता है। दूसरा पाठ महाजनपदों के विशेष सन्दर्भ में छठी सदी ईसा पूर्व में भारत के विभिन्न भागों में आरंभिक राज्यों और नगरों के उदय का विवरण प्रस्तुत करता है। तीसरे पाठ में मगध के शक्तिशाली महाजनपद के रूप में उदय और फ़ारसी एवं यूनानी आक्रमणों एवं उनके प्रभावों की चर्चा की गयी है। चौथा पाठ भारतीय इतिहास में मौर्य काल के विभिन्न पहलुओं और अशोक की धम्म-नीति पर प्रकाश डालता है। पांचवां पाठ मौर्योत्तर काल (200 ईसा पूर्व से 300 ईस्वी) के दौरान की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक गतिविधियों और कला तथा स्थापत्य पर उनके प्रभावों की व्याख्या करता है। पाठ छः में संगम साहित्य के आधार पर संगम काल के दौरान जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आए बदलावों एवं विभिन्न घटनाक्रमों का उल्लेख किया गया है। सातवां पाठ चौथी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक घटनाक्रमों पर प्रकाश डालता है। यह पाठ गुप्त काल की रूप-रेखा प्रस्तुत करता है साथ ही उनके पतन के कारणों, जिसने आगामी राजनीतिक शक्तियों का मार्ग प्रशस्त किया, की विवेचना करता है। आठवां और अंतिम पाठ में प्राचीन भारतीय समाज के मध्यकालीन समाज में रूपांतरण के कारकों पर चर्चा की गयी है। यह पाठ गुप्त काल के बाद की समकालीन राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति में आए बदलावों के साथ-साथ विज्ञान, चिकित्सा और गणित के क्षेत्र में आए विकास को रेखांकित करता है।

पाठ 9

ईसा पूर्व छठी से चौथी सदी में विकास: नए धार्मिक आंदोलन

पाठ्य-रूपरेखा

- 9.0 उद्देश्य
- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 विभिन्न धार्मिक संप्रदायों का उद्भव
 - 9.2.1 बौद्ध तथा जैन धर्मों के उदय के कारण
- 9.3 उत्तर-पश्चिमी भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति
 - 9.3.1 समाज
 - 9.3.2 अर्थव्यवस्था
- 9.4 जैन धर्म
 - 9.4.1 महावीर
 - 9.4.2 महावीर के उपदेश
 - 9.4.3 जैन संप्रदाय और उनका विकास
- 9.5 बौद्ध धर्म
 - 9.5.1 गौतम बुद्ध
 - 9.5.2 बुद्ध के उपदेश
 - 9.5.3 बौद्ध दर्शन
 - 9.5.4 बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण
 - 9.5.5 बौद्ध संप्रदाय: हीनयान और महायान
 - 9.5.6 बौद्ध-धर्म के पतन का कारण
- 9.6 जैन धर्म और बौद्ध धर्म के बीच समानता और विरोधाभास
- 9.7 सारांश

9.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन आपको निम्नलिखित विषयों में सक्षम बनाता है-

- छठी सदी ईसा पूर्व में उत्तर-पश्चिमी भारत के सामाजिक-आर्थिक जीवन की व्याख्या
- नए धर्मों- बौद्ध और जैन- के उदय के कारणों की समीक्षा
- बौद्ध और जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों की समझ
- बौद्ध और जैन धर्मों में समानता और विरोधाभास की व्याख्या

9.1 प्रस्तावना

ईसा पूर्व की छठी सदी अनेक देशों में भी आध्यात्मिक अशांति और बौद्धिक परिवर्तन और विकास की सदी थी। इस अवधि में मनुष्य धर्म में सुधार लाकर मुक्ति प्राप्त करने के विभिन्न साधन अपनाने में अपने जीवन की समस्याओं से जूझ रहा था। अर्थात् सत्य को पाने का निरंतर प्रयास हो रहा था। भारत में महावीर और बुद्ध, बेबिलोन में ईसाइयों, यूनान में सुकरात, चीन में कन्फ्युशियस आदि अनेक दार्शनिक एक दूसरे से सहमत न होकर पूर्ण विश्वास के साथ मानव-मस्तिष्क को उद्वेलित करने का प्रयास कर रहे थे।

9.2 विभिन्न धार्मिक संप्रदायों का उद्भव

उत्तर-पूर्वी भारत के मध्य गंगा क्षेत्र में ईसा पूर्व छठी शताब्दी में धार्मिक आंदोलन शुरू हुआ जिसके फलस्वरूप अनेक धार्मिक संप्रदायों ने जन्म लिया। इस काल को भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण माना गया है क्योंकि भारत में इस समय में अनेक मत और दर्शनों के प्रादुर्भाव ने धर्म को बौद्धिक रूप प्रदान किया। विभिन्न मतों में गहरा विश्वास करने वाले संन्यासी अपने जीवन दर्शन का साधारण जनता में प्रचार करने लगे। यद्यपि इस धार्मिक आंदोलन के अनेक कारण थे परंतु यह बात स्पष्ट है कि उनका आधार तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों पर निर्भर था। इस काल के सामाजिक विकास में प्राचीन वैदिक परम्परा की धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताएँ रुकावट बन रही थीं। इसी समय में लगभग 62 धार्मिक सम्प्रदायों ने जन्म लिया जिनकी नींव विभिन्न समुदायों में प्रचलित धार्मिक प्रथाओं और अनुष्ठानों पर टिकी हुई थी। पुरातन वैदिक-ब्राह्मण धर्म के अनेक दोषों पर भी सवाल उठने लगे। ऐसे सम्प्रदायों में जैन और बौद्ध धर्म प्रमुख थे जो इस आंदोलन को सुधारवादी रूप देने में सफल हुए।

9.2.1 बौद्ध तथा जैन धर्मों के उदय के कारण

ईसा पूर्व छठी सदी में साधारण जन राज्य-अधिकारियों के विरुद्ध अपनी आवाज उठा रहे थे क्योंकि ये अधिकारी पुरोहितों के रूप में विशेष स्थान ग्रहण कर चुके थे। सामाजिक जीवन में भी वैदिक काल की रूढ़ियों और बलि की परम्परा का विरोध करते हुए विभिन्न प्रश्न उठने लगे। ऐसे समय में जैन और बौद्ध धर्म सुधार आंदोलनों का रूप धारण करके मंच पर आए। इस समय तक हिंदू धर्म अनेक बुराइयों में घिर गया था और अपनी मौलिक शुद्धता खो रहा था। बलि प्रथा, कर्मकाण्डों और अनुष्ठानों का पालन करते हुए हिंदू धर्म में इतनी त्रुटियाँ आ गई थीं जो अब असहनीय सी लगने लगीं। ब्राह्मणों के द्वारा आम जनता का शोषण अपनी सीमा पार कर चुका था। वर्ण व्यवस्था का विरोध करते हुए और हिंदू धर्म को अपना अस्तित्व खोते देख महावीर और गौतम बुद्ध लोगों के समक्ष न केवल धर्म सुधारक बल्कि उनके जीवन में शांति और सरलता लाने के लिए प्रोत्साहित हुए। वे एक नया धर्म नहीं चलाना चाहते थे पर उपनिषदों को आधार बनाकर वे समाज में सुधार लाना चाहते थे।

ब्राह्मणवाद के विरोध में धार्मिक आंदोलन ने प्रयास किया। वैदिक मंत्र जो देव वाक्य माने जाते थे वे पुरोहितों द्वारा ही कहने पर उचित माने जाते थे। ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों में इस कारण ब्राह्मणों को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जाता था। पर इस कारण से ब्राह्मणों में धन-लोलुपता बढ़ती जा रही थी। कर्मकांड और यज्ञ भी बहुत जटिल और सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए किए जा रहे थे। बहुमूल्य दक्षिणा प्राप्त करके ब्राह्मण के धन के लिए यज्ञ करते थे इसलिए यज्ञ नीरस और बाहरी संतुष्टि के लिए ही किए जाने लगे। राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों में पशुवध अत्यधिक मात्रा में होने लगा। वर्ण व्यवस्था में कर्म के अनुसार नहीं बल्कि जन्म के आधार पर वर्ण निश्चित होने लगा। उत्पादन-प्रणाली के प्रसार से साधारण जन जाति अपनी क्षमता और कुशलता दिखलाते हुए किसी-न-किसी वर्ण में आदरणीय

जगह प्राप्त कर लेते थे। क्षत्रिय वर्ग पर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रति सजग हो गए क्योंकि अब वे न केवल शस्त्र-धारण के अधिकारी थे बल्कि उनके ऊपर राज्य की नींव भी रखी जाने लगी।

महावीर और गौतम बुद्ध के समक्ष एक ओर तो वेदवाद, जाति-व्यवस्था, यज्ञवाद, पुरोहितों की महत्ता संबंधी धारणा पर प्रहार करने की समस्या थी, दूसरी ओर अपने सिद्धांतों और उपदेशों के द्वारा अपनी प्रामाणिकता बनाए रखने की जिम्मेदारी भी थी। ब्राह्मण धर्म के जाति-प्रथा, यज्ञ-कर्मकांड, पशु-वध और वैदिक यज्ञ-वाद आदि की आलोचना करते हुए इन दोनों महापुरुषों ने कर्म को वर्ण और जाति का आधार माना और जन्म पर निर्धारित वर्ण प्रथा को अस्वीकार किया। बुद्ध के अनुसार जन्म से कोई ब्राह्मण या गैर-ब्राह्मण नहीं होता है। केवल कर्म से जाति का निर्धारण होता है। सभी जाति के लोग संन्यासी होकर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। बौद्ध ग्रंथों में क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक बताई गई थी।

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. संक्षेप में उन कारणों की चर्चा करें जो बौद्ध और जैन धर्मों के उदय के कारण बने।

9.3 उत्तर-पश्चिमी भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति

9.3.1 समाज

इस समय में समाज स्पष्ट रूप से चार वर्णों में खंडित था - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र। वैदिकोत्तर काल में प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य निर्धारित किए गए थे। यह वर्ण व्यवस्था जन्म मूलक होने के कारण पहले दोनों वर्णों को विशेष अधिकार प्रदान करती थी। कर्तव्यों का विभाजन भी जन्म के आधार पर होता था। ब्राह्मण विशेष अधिकारों, दान प्राप्ति, करों से छुटकारा और दंडों से माफ़ी पाने के दावेदार थे। वे युद्ध और शासन करने की क्षमता रखते हुए कृषि उत्पादन पर लगाए गए करों से अपना जीवन-निर्वाह करते थे। वैश्य कृषि पशु पालन और व्यापार करते थे और ये मुख्य कर दाता थे। शूद्रों का कर्तव्य ऊपर के तीन वर्णों की सेवा करना था। समाज में इस प्रकार की वर्ण विभाजन से असंतुष्टि बढ़ रही थी। ब्राह्मणों के धर्म संबंधी प्रभुत्व क्षत्रिय वर्ग को अस्वीकार था क्योंकि इस समय तक क्षत्रिय शासक के रूप में उभर कर आ गए थे।

इसी कारण क्षत्रियों ने जन्म मूलक वर्ण व्यवस्था को मानने के विरुद्ध आंदोलन आरम्भ किया था। जैन और बौद्ध धर्म ने पुरोहितों और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर प्रश्न उठाए। इन दोनों धर्मों के संस्थापक क्षत्रिय थे इसलिए दोनों ने ब्राह्मणों की प्रभुता का पूर्ण रूप से विरोध किया।

9.3.2 अर्थव्यवस्था

इन धर्मों के उद्भव का यथार्थ कारण पूर्वोत्तर भारत में नई कृषिमूलक अर्थव्यवस्था का विकास था। कुरु पांचाल प्रदेश से उत्तर पूर्व की ओर वैदिक धर्म का प्रचार होने लगा। यह उत्तर वैदिक काल के यज्ञ प्रधान धर्म का फैलाव नहीं था बल्कि कृषि प्रधान नई तकनीकों का प्रसार था। शतपथ ब्राह्मण के विवरण से पता चलता है कि जंगल को जलाकर और पेड़ों को काटकर, लोहे के प्रयोग के द्वारा भूमि को कृषि-योग्य बनाने का प्रयास हो रहा था। लौह तकनीक से न केवल खेती के उपकरण बनाए गए बल्कि कृषि उत्पादन में भी वृद्धि हो गई। इस अधिक उत्पादन से अधिशेष उपज प्राप्त होने लगी। कबायली जीवन-प्रणाली में भी इस उत्पादन तकनीक के कारण क्रांति आई और अनेक बड़ी बस्तियों का उदय हो गया।

रामशरण शर्मा के अनुसार कृषिमूलक अर्थव्यवस्था में बैलों का प्रयोग आवश्यक था जिसके लिए पशु पालन अनिवार्य था। परंतु कुरु-पांचाल प्रदेश में मांसाहार के लिए पशु-वध चलता रहा। वैदिक कर्मकांड के यज्ञों में भी पशु असंख्य रूप में मारे जाते थे। फलस्वरूप पशु-धन कम होता जा रहा था। दूसरी ओर नवीन कृषि-प्रणाली में अधिक-से-अधिक पशुओं की आवश्यकता पड़ने लगी। लौह उपकरण से न केवल कृषि उत्पादन का विकास हुआ बल्कि अनेक शिल्प और उद्योग व्यवसायों में भी प्रगति हुई। फलस्वरूप उत्तर भारत में नगरों का उत्थान हुआ। नगरीकरण से व्यवस्थापनों का भी उदय हुआ। मुद्रा प्रयोग से भी व्यापार में बढ़ोतरी हुई। कृषि और व्यापार में इस क्रांति ने कबायली जीवन में परिवर्तन किए जो परम्परा से चल रही मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते थे। व्यापार के बढ़ने से शासक वर्ग को भी अधिक समृद्धि मिली। धनाढ्य व्यापारी श्रेष्ठी और गहपति कहलाए जाते थे और समाज में उनकी मान्यता स्वीकृत होने लगी। राम शरण शर्मा के अनुसार कुरु-पांचाल क्षेत्र में प्रचलित वैदिक संस्कृति के अनेक तत्त्व अर्थहीन होने लगे। जाति-व्यवस्था, यज्ञवाद, ब्राह्मणवाद, वेदों में आस्था आदि पर प्रश्न उठने लगे। वेदवादी वर्ण परम्परा पर प्रहार होने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि आर्थिक परिस्थितियों के बदलाव से समाज में भी प्रभाव नजर आने लगा और एक शस्त्रधारी व शक्तिशाली नए क्षत्रिय वर्ग का उदय हुआ।

दूसरी ओर व्यापार के बढ़ने से वैश्यों का महत्व भी समाज में बढ़ने लगा। वैश्यों को जाति-वर्ण में तीसरा स्थान उपलब्ध था। स्वभावतः वे ऐसे धर्म की खोज में थे जो उनकी सामाजिक स्थिति को सुधार सके। ब्राह्मणों की कानून संबंधी पुस्तकें जो धर्मसूत्र कहलाती थीं, सूद को निंदनीय कारोबार समझती थी और इस पर जीने वाले को अधम कहा जाता था। वैश्य महाजनी करते थे क्योंकि वाणिज्य-व्यापार में वह लाभदायक सिद्ध होती थी पर वे समाज में ब्राह्मण के तुल्य आदर नहीं पाते थे। इसलिए अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए वे निरंतर प्रयास करते थे। व्यापार में वृद्धि तभी सम्भव हो सकती थी जब विभिन्न राजाओं में आपसी युद्ध बंद हों। अहिंसा ही इस पर रोक लगा सकती थी। क्योंकि जैन और बौद्ध धर्म की आरंभिक व्यवस्था तत्कालीन वर्ण व्यवस्था को स्वीकार नहीं करती थी इसलिए वैश्यों को उन्हें पूरा सहयोग प्रदान करने का अवसर मिल गया।

सामाजिक जीवन में वाणिज्य-व्यापार के कारण अनेक परिवर्तन तो भले ही हुआ पर निजी संपत्ति का संचय भी आरम्भ हो गया जिसके लिए प्रतिक्रिया कड़ी हो गई। सिक्के चाँदी और ताँबे के बने होते थे इसलिए पुराने विचारों के लोग इन सिक्कों को प्रयोग में लाना पसंद नहीं करते थे। संपत्ति के कारण उत्पन्न असमानता से वे घृणा करते थे। इससे उत्पन्न युद्ध और हिंसा से भी वे सहमत नहीं थे। नई परिवहन-प्रणाली, नए निवासों और परिधानों से उत्पन्न भेद-भाव से वे असंतुष्ट और अशांत थे। इसलिए वे अपने पुराने आदिम जीवन में लौट जाने की इच्छा करने लगे। समय की पुकार सुनते हुए जैन और बुद्ध धर्म सरल, शुद्ध और संयमित जीवन को मान्यता देने लगे और गंगा घाटी के नए जीवन की भौतिक सुख-सुविधाओं के विरुद्ध आवाज उठाने लगे।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. सही-गलत बताएँ:

- (i) उत्तर-वैदिक समाज चार वर्णों: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और क्षुद्र में स्पष्टतः विभक्त था।
- (ii) उत्तर वैदिक काल में क्षुद्र सामाजिक पदानुक्रम में सबसे निचले पायदान पर थे और ऊपर के तीन वर्णों की घरेलू दासों व कृषि-श्रमिकों के तौर पर सेवा करने के लिए विवश थे।
- (iii) सात सौ ईसा पूर्व में बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में लोगों के भौतिक जीवन में आए बड़े बदलाव की मुख्य वजह थी- लोहा के उपयोग की शुरुआत।

- (iv) पुरातत्त्व द्वारा खोजे गए सर्वाधिक प्राचीन सिक्के बुद्ध के बाद के काल के हैं।
- (v) लोहे के हथियारों के इस्तेमाल ने सैन्य उपकरणों में क्रांति ला दी जिससे समकालीन राजनीति में पुरोहितों की तुलना में योद्धाओं का महत्व बढ़ गया।

9.4 जैन धर्म

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में निरंतर परिवर्तन ने जैन और बौद्ध सम्प्रदायों को जन्म दिया जो धार्मिक आंदोलन का स्वरूप पाकर सुधारवादी आंदोलन बन गए। जैन परम्परा के अनुसार 24 तीर्थंकर महावीर माने गए हैं। ऋग्वेद में पहले तीर्थंकर ऋषभदेव का संदर्भ है। पर 22 तीर्थंकरों का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। महावीर के निकटतम पूर्वज पार्श्वनाथ बनारस के राजकुमार थे। उनका काल महावीर से 250 वर्ष पहले माना जाता है। 30 वर्ष की आयु में वैराग्य होने के कारण गृहत्याग करके ये संन्यासी हो गए। 83 दिनों की घोर तपस्या के बाद इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। जैन-अनुश्रुति के अनुसार 100 वर्षों तक इन्होंने धर्म का प्रचार किया। वे वैदिक धर्म के कर्मकांड और वेदवाद के कटु आलोचक थे और प्रत्येक व्यक्ति को मोक्ष का अधिकारी मानते थे।

9.4.1 महावीर

महावीर स्वामी जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे पर धर्म के अंतिम और सर्वाधिक प्रसिद्ध तीर्थंकर थे। जैन धर्मावलंबियों का विश्वास है कि उनके सबसे महान धर्मोपदेशक महावीर के पहले पंद्रहवें तीर्थंकर तक, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में उत्पन्न हुए थे इसलिए उनकी ऐतिहासिकता नितांत संदिग्ध बताई गई है। जैन धर्म के प्राचीनतम सिद्धांतों के उपदेष्टा तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ माने जाते हैं पर यथार्थ में जैन धर्म की स्थापना उनके आध्यात्मिक शिष्य वर्धमान महावीर ने की। एक परम्परा के अनुसार वर्धमान महावीर का जन्म 540 वर्ष ई. पू. में वैशाली के पास किसी गाँव में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय कुल के प्रधान थे। उनके माँ-बाप पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। आरम्भ में महावीर गृहस्थ जीवन में थे पर सत्य की खोज में 30 वर्ष की उम्र में, अपने माँ-बाप के देहावसान के बाद, वे संन्यासी हो गए। 13 वर्षों की तपस्या के बाद, वे पूर्णतः प्रबुद्ध हो गए और अर्हत की उपाधि धारण की जिसका अर्थ है सुयोग्य और सक्षम अर्थात् विजेता। कोसल, मगध, मिथिला, चंपा आदि प्रदेशों में उन्होंने धर्म का प्रचार किया और ईसा पूर्व 468 में 72 वर्ष की आयु में दक्षिण बिहार के पावा में उनका देहावसान हो गया।

9.4.2 महावीर के उपदेश

पालि ग्रंथों के अनुसार महावीर एक नए धर्म के संस्थापक नहीं थे बल्कि पार्श्वनाथ द्वारा चलाए गए धर्म में सुधारक के रूप में उभरे। पार्श्वनाथ ने सामाजिक-धार्मिक समानता पर विशेष बल दिया और चार सूत्रीय धर्म का प्रतिपादन किया (1) अहिंसा अर्थात् हिंसा नहीं करना (2) सत्य अर्थात् झूठ न बोलना (3) अचौर्य अर्थात् चोरी नहीं करना (अस्तेय) (4) अपरिग्रह अर्थात् संपत्ति अर्जित न करना। महावीर ने इस सूची में ब्रह्मचर्य या इंद्रिय निग्रह करना को जोड़ दिया। बाद में इनमें एक और महावत जुड़ गया, यह था रात्रि में भोजन नहीं करना। जीवन दर्शन में जैन दर्शन हिंदु धर्म के सांख्य दर्शन से समानता रखता है। इसमें ईश्वर की अवधारणा अप्रासंगिक है।

जैन धर्म ब्रह्मांड को एक सनातन नियम के अंदर कार्यरत देखता है जिसके अनुसार सृष्टि उन्नति और अवनति के उतार-चढ़ाव से निरंतर गुजरती है। इसके अनुसार जीवन का एकमात्र लक्ष्य आत्मा का शुद्धिकरण है। आत्मा की शुद्धि ज्ञान से नहीं हो सकती बल्कि जैन धर्म के अनुसार उपवास, अहिंसा, अस्तेय, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य के निरंतर अभ्यास से ही हो सकती है।

जैन धर्मों में संसार दुःख-मूलक माना गया है। मनुष्य वृद्धावस्था और मृत्यु से घिरा हुआ है। सांसारिक जीवन की तृष्णा और माया के जाल में मनुष्य फंसा हुआ है। संपत्ति संचय के लिए मनुष्य की कामनाएँ निरन्तर बढ़ती रहती है। काम भोग विष के समान हैं जो मनुष्य को दुख की ओर ले जाते हैं। संसार के विषयों और सुखों को त्यागकर मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर सकता है। संसार के सभी प्राणी अपने-अपने संचित कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में पैदा होते हैं और कर्म फल भोगते हैं। कर्म-फल से छुटकारा पाने के लिए त्रिरत्न का अनुशीलन आवश्यक है। जैन धर्म के त्रिरत्न हैं-सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान तथा सम्यक आचरण। सम्यक आचरण या चरित्र में मनुष्य को सम्यक ज्ञान के आलोक में अपने आवेगों, इंद्रियों, विचार, वचन और कर्म को नियंत्रित करना पड़ता है। सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र के सम्मिलन से संवेग नियंत्रित किए जाते हैं और जीव को पदार्थ के बंधन से मुक्त किया जाता है। इन बाधाओं के हटने पर आत्मा पूर्णता प्राप्त कर शुद्ध रूप में मोक्ष या निर्वाण की स्थिति प्राप्त कर लेती है।

महावीर मानते थे कि निर्जीव पदार्थ चेतना अथवा आत्मा से संपन्न हैं और गलत व्यवहार से उनको दुख पहुँचता है। अर्थात् अहिंसा को सर्वोच्च माना गया है। जैन धर्म में ईश्वर की मान्यता नहीं है। संसार है तथा वास्तविक है किंतु इसकी सृष्टि का कारण ईश्वर नहीं है। यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है और यह शाश्वत होने के कारण सदैव विद्यमान रहेगा। जैन धर्म के अनुसार क्योंकि ईश्वर या सृष्टिकर्ता नहीं है इसलिए दुखों के निवारण के लिए मनुष्य को किसी सत्ता की कृपा पर निर्भर नहीं करना चाहिए। आत्मा की शुद्धता के साथ मुक्ति के सुगम मार्ग को त्याग द्वारा पाया जा सकता है। पवित्रता और अच्छे गुणों को अपनाकर मनुष्य अपने दुखों का निवारण कर सकता है। इस प्रकार, जैन धर्म मुख्य रूप से नीति-संहिता है। जैनियों के अनुसार सांसारिक बंधनों से आत्मा को आसक्त कर मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। कर्म और पुनर्जन्म पर विश्वास रखते हुए जैन धर्म के अनुसार अच्छे और बुरे कर्मों का प्रभाव इंसान भोगता है जिसका प्रभाव परम मुक्ति पर भी पड़ता है।

जैन धर्म के मतानुसार आत्मा न केवल प्राणियों में बल्कि पेड़-पौधों और धूल कणों में भी है। किंतु जैसे जीव भिन्न-भिन्न होते हैं वैसे ही उसमें विद्यमान आत्मा भी भिन्न-भिन्न होती है। प्रत्येक जीव में दो तत्त्व सदैव विद्यमान होते हैं- एक आत्मा और दूसरा इसे घेरने वाले भौतिक तत्त्व। जीवन का परम लक्ष्य आत्मा को भौतिक तत्त्व से मुक्त करना है और निर्वाण का मार्ग अपनाना है। जीव और अजीव इन दो तत्त्वों से मनुष्य का शरीर बना हुआ है। अजीव नश्वर है और जीव अनश्वर। मनुष्य को मुक्ति केवल जीव की शुद्धता से मिल सकती है। वास्तव में जीव और अजीव एक दूसरे के संबंध से ही जन्म, मृत्यु आदि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से गुजरते हैं। आत्मा की विशुद्धि के द्वारा ही इन दोनों पर काबू पाया जा सकता है। जैन धर्म के अनुसार सात तत्त्व या सात सत्य ही मनुष्य को अपने कर्म में सुधार लाने के लिए प्रेरित करते हैं। महावीर के अनुसार मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है और वह भगवान के समान हो सकता है यदि वह शुद्ध और त्याग का जीवन व्यतीत करे। इस धर्म में तप पर अधिक बल दिया गया है। आत्मा को घेरने वाले भौतिक तत्त्व का दमन करने के लिए काया-क्लेश भी आवश्यक है। इसके अंतर्गत उपवास द्वारा शरीर के अंत का भी विधान है। आवागमन के प्रक्रम को कर्मों को विनष्ट कर रोका जा सकता है और धर्मानुसार यह छः महाव्रतों के अनुपालन से ही संभव है। सामान्य जन के लिए मुक्ति-प्राप्ति की कोई संभावना नहीं बनती क्योंकि मुक्ति के लिए तपस्या पूर्वापेक्षित है। इस लक्ष्य सिद्धि के लिए व्यक्ति को सांसारिक संपत्तियों एवं आसक्तियों से छुटकारा पाना पड़ता है। उसे घोर संयम और आत्मदान जिसमें उपवास, अध्ययन, चिंतन और मनन शामिल हैं, का जीवन बिताना होगा।

9.4.3 जैन संप्रदाय और उनका विकास

कालांतर में जैन धर्म के अनुयायी दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गए-श्वेतांबर (श्वेत वस्त्र धारण करने वाले) और दिगंबर (पूर्ण रूपेण नग्न रहने वाले) इन दोनों में मौलिक दार्शनिक सिद्धांत पर उतना मतभेद नहीं था जितना व्यवहार और

विश्वास संबंधी बातों में दोनों सम्प्रदाय तीर्थकरों के उपदेशों को स्वीकार करते थे। लेकिन दिगंबर ज्यादा कठोर और शुद्धतावादी है जबकि श्वेतांबर मानवीय कमजोरियों के प्रति अधिक सहनशील। एक मत अनुसार पार्श्वनाथ अपने अनुयायियों को नग्न रहने के लिए नहीं कहते थे पर महावीर इस बात की मान्यता रखते थे। जैन धार्मिक ग्रंथ 12 अंग दिगंबरों को प्रोत्साहित नहीं करती थी। महावीर द्वारा प्रचारित विषयों को 14 पुरासाहित्य में रखा गया था जिसको 'पूर्व' कहा जाता था। पाटलिपुत्र में सम्मिलन में श्वेताम्बर जैन साहित्य को महत्व दे रहे थे परंतु दिगम्बर उसकी आलोचना में नकारात्मक संदर्भ दे रहे थे। पूर्ण रूप से देखा जाए तो महावीर के सिद्धांत समाज के विभिन्न वर्गों ने अपनाए थे। प्राकृत के प्रयोग के कारण भी इस धर्म को प्रोत्साहन मिला। मगध के राजाओं ने भी इस धर्म को आगे बढ़ाने के लिए सहयोग दिया। मथुरा और उज्जैन जैन धर्म के केंद्र बन गए।

जैन सम्मिलन में जैन साहित्य को अर्धमगधी में विधिपूर्वक लिखा गया। परंतु महावीर के देहांत के पश्चात प्रसिद्ध धार्मिक प्रचारक की कमी जैन धर्म का दो सम्प्रदायों में विभाजन, हिंदु धर्म का पुनरुत्थान और गुप्त, चोल, चालुक्य, राजपूत राजाओं का इस धर्म के प्रति कोई रुझान न होने के कारण यह धर्म खत्म होता गया। परंतु भारतीय संस्कृति पर विशेषतः साहित्य और भवन-निर्माण में इसका योगदान सराहनीय है। मथुरा, ग्वालियर, जूनागढ़, चित्तौड़, आबू, मैसूर, उड़ीसा आदि में जैन धर्म के प्रसार के महत्वपूर्ण उदाहरण अभी भी विद्यमान हैं। इससे स्पष्ट है कि महावीर मुख्य रूप से जैन धर्म के उपदेशक और पुर्नगठनकर्ता थे। उनके उपदेशों ने साधारण जनता और अनेक समकालीन नरपतियों को समान रूप से प्रभावित किया।

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. सही-गलत बताएँ:

- (i) जैन धर्म के वास्तविक संस्थापक प्रथम तीर्थकर महावीर थे।
- (ii) पालि ग्रंथों के अनुसार महावीर एक नए धर्म के संस्थापक नहीं थे बल्कि पार्श्वनाथ द्वारा चलाए गए धर्म में सुधारक के रूप में उभरे।
- (iii) महावीर ने पार्श्वनाथ के धार्मिक सिद्धांतों से बिल्कुल भी सहमत नहीं थे।
- (iv) महावीर के अनुसार मनुष्य अपने भाग्य का वास्तुकार स्वयं है और वह पवित्रता, सदाचार और त्याग का जीवन अपनाकर मोक्ष या भगवान तक का दर्जा प्राप्त कर सकता है।
- (v) जैन धर्म के दो प्रमुख संप्रदाय हैं: श्वेताम्बर तथा दिगंबर।

9.5 बौद्ध धर्म

9.5.1 गौतम बुद्ध

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में धार्मिक आन्दोलन का प्रबलतम रूप हम बौद्ध धर्म की शिक्षाओं और सिद्धांतों में पाते हैं जो पालि त्रिपिटक में संकलित हैं। गौतम बुद्ध या सिद्धार्थ महावीर के समकालीन थे। इनका जन्म वर्तमान नेपाल के दक्षिणी भाग में कपिलवस्तु में शाक्य-राजघराने में 566 वर्ष ईसा पूर्व हुआ था। उन्तीस वर्ष की आयु में सिद्धार्थ ने गृहस्थ जीवन त्यागकर संन्यास ग्रहण कर लिया। वे सत्य की खोज में एक जगह से दूसरी जगह भ्रमण करते रहे क्योंकि वे सांसारिक दुखों के प्रति चिंतनशील रहते थे। अलार कलाम और रूद्रक रामपुत्र आदि अनेक गुरुओं से शिक्षा ग्रहण के पश्चात भी गौतम बुद्ध असंतुष्ट रहे। घोर तपस्या का भी कोई उन्हें लाभ न हुआ। अंततः सतत गहन समाधि के द्वारा उन्हें पैंतीस वर्ष

की आयु में बोधगया में एक विशाल वृक्ष के नीचे बोध अथवा ज्ञान की प्राप्ति हुई और उसके पश्चात् वे बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए।

यद्यपि गौतम बुद्ध का जीवन वैभवशाली सुखों से भरा हुआ था पर उनके मन में वैराग्य की भावना सदैव प्रबल रहती थी। नगर में भ्रमण के समय सिद्धार्थ ने पहले जर्जर शरीर वाला वृद्ध, फिर रोगग्रस्त व्यक्ति और एक मृत व्यक्ति को देखा जिसके कारण उनके मन में दुःखमय जीवन के प्रति घोर वितृष्णा हुई। फिर उन्होंने एक प्रसन्न मुद्रा में भ्रमण करने वाले व्यक्ति जो सांसारिक मोह-बंधन से आसक्त था, व्यक्ति को देखा। ये सभी दृश्य-क्रम निश्चित रूप से सिद्धार्थ को संन्यास की ओर अग्रसर करने लगे।

सांसारिक दुखों ने सिद्धार्थ की मनोवृत्ति पर गहरी छाप डाली और ज्ञान की खोज में निकल पड़े। ज्ञान प्राप्त कर गौतम बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश अपने पूर्व के पाँच शिष्यों को वाराणसी के समीप सारनाथ में दिया। यह घटना बौद्ध धर्म में धर्मचक्र प्रवर्तन के नाम से जानी जाती है। उनका देहावसान 80 वर्ष की अवस्था में संभवतः 486 ई. पूर्व में हुआ। उनके संदेशों ने बौद्ध धर्म और दर्शन दोनों की आधारशिला रखी और यह काल क्रम से श्रीलंका, बर्मा, सीरिया, तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान आदि देशों में फैल गया।

9.5.2 बौद्ध दर्शन

गौतम बुद्ध बड़े व्यावहारिक सुधारक थे। उन्होंने अपने समय की वास्तविकताओं को भली-भाँति समझा इसलिए सांसारिक समस्याओं का समाधान ढूँढने में जुट गए। उन्होंने संसार को दुःखमय माना और जीवन की स्थितियों को दुःख से भरपूर माना। लोग केवल इच्छा और लालसा अर्थात् काम के कारण दुःख भोगते हैं। उनके अनुसार जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अप्रिय लोगों से मिलना, प्रिय लोगों से बिछड़ना आदि सब दुःख है। यदि काम पर विजय प्राप्त कर लो तो निर्वाण अर्थात् जन्म-मरण के बंधन से मनुष्य मुक्त हो जाता है। इस सत्य का बोध ही प्रथम आर्य सत्य है। द्वितीय आर्य सत्य यह अनुभूति है कि दुःख अकारण नहीं है। इसका भी कारण है और वह है तृष्णा।

बौद्ध धर्म का मूलाधार चार आर्य सत्य हैं। इस धर्म के सभी सिद्धांत और विभिन्न दार्शनिक मत-वादों के ये ही आधार हैं। ये चार आर्य सत्य हैं: दुःख, दुःख समुदाय, दुःख-निरोध, दुःख निरोधगामिनीप्रतिपद (दुःख निवारक मार्ग) अर्थात् अष्टांग मार्ग।

बुद्ध ने जीवन के दुखों की उत्पत्ति कारण-कार्य संबंध से जोड़ा है जिसे बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद कहा गया है। (प्रतीत्य-इससे होने वाली, समुत्पाद -यह उत्पन्न होता है)। उनके अनुसार सर्वम दुःखम अर्थात् सभी वस्तुएँ दुःखमय हैं। प्राणी के अस्तित्व के कारण ही दुःख हैं। जरा, व्याधि, निराशा आदि इसलिए हैं क्योंकि जन्म है। जन्म भी अकारण नहीं है। इसका कारण है होने की इच्छा या भव। यह भव लेने की अंध इच्छा का नाम है। सांसारिक विषयों के प्रति हमारा उपादान या आसक्ति की अभिलाषा ही हमारे जन्म-प्रवृत्ति का कारण है। यह उपादान भी हमारी तृष्णा अर्थात् शब्द, स्पर्श आदि विषयों को भोगने की इच्छा के कारण है। तृष्णा का कारण हमारे पहले का विषय-भोग है। इस तृष्णा का कारण वेदना है जो इंद्रियों के स्पर्श के बिना नहीं होती। स्पर्श के लिए पाँच इंद्रियाँ और मन आवश्यक है। इनके समूह को षडायतन कहते हैं। पूर्वजन्म के संस्कारों से नामरूप प्राप्त कर मनुष्य अविद्या को ज्ञान के द्वारा ही अपने जीवन का मूलाधार बना सकता है और यही जन्म का मूल कारण है। मनुष्य के पूर्ववर्ती सभी कर्मों का प्रभाव मनुष्य को जन्म दिलवाता है। 12 कड़ियाँ (द्वादश निदान भाव चक्र) कारण की शृंखला बन जाती है जिससे प्रतीत्य समुत्पाद होता है। दूसरे शब्दों में (1) दुःख का कारण जन्म है। (2) जन्म का कारण भव (इच्छा) है। (3) भव का कारण उपादान (उनसे लिपटने की अभिलाषा) है। (4) उपादान का कारण तृष्णा है। (5) तृष्णा का कारण वेदना (सुखानुभूति) है (6) वेदना

का कारण स्पर्श है (इंद्रियों का विषयों के सार्य संपर्क) (7) स्पर्श का कारण षडायन (पाँच इंद्रियाँ और मन का समूह) है। (8) षडायन का कारण नामरूप (गर्भस्थ भ्रूण के शरीर और मन के समूह) है। (9) नाम रूप का कारण विज्ञान (चैतन्य) है। (10) विज्ञान का कारण संस्कार है। (11) संस्कार का कारण अविद्या है। क्षणिक, दुखद, असार एवं हेय विषयों को स्थायी, सुखद और उपादेय समझ लेना ही अविद्या या मिथ्या ज्ञान है। यही जन्म का मूल कारण है।

बुद्ध की ज्ञान प्राप्ति के चार आर्य सत्य का मूल तत्त्व है कि जीवन में दुःख ही दुःख है। दुःख समुदय अर्थात् दुःख उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं। तृतीय आर्य सत्य है दुःख का निवारण या दुःख निरोध जिसके लिए तृष्णा का उच्छेद या उन्मूलन आवश्यक है। अष्टांगिक मार्ग दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा है। संसार में विषयों की इच्छा को त्यागना ही दुःख निरोध का मार्ग प्रशस्त करता है। ये आठ मार्ग हैं (1) सम्यक दृष्टि अर्थात् सत्य और असत्य की सही परख (2) सम्यक संकल्प अर्थात् आसक्ति, हिंसा और इच्छा से रहित रहना (3) सम्यक वाणी अर्थात् मीठे और प्रिय वचन बोलना (4) सम्यक कर्म अर्थात् अहिंसा, अस्तेय, इंद्रिय-संयम और मद्यपान-निषेध ही सम्यक कर्म कहे गए हैं (5) सम्यक आजीव अर्थात् शुद्ध उपाय व सदाचार से जीविकोपार्जन करना (6) सम्यक व्यायाम अर्थात् विवेकपूर्ण प्रयत्न (7) सम्यक स्मृति अर्थात् शरीर, वेदना, चित्त और मानसिक व्यवस्था को जानकर उससे संबंध ने जोड़ना (8) सम्यक समाधि अर्थात् चित्र की समुचित एकाग्रता और सत्य, आनंद और मन की शांति की अवस्था। यह पूर्ण प्रज्ञा की अवस्था है।

इस अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से मनुष्य निर्वाण की प्राप्ति करता है। इस अष्टांगिक मार्ग के अंतर्गत अत्यधिक विलासपूर्ण जीवन या अत्यधिक काया-क्लेश में या संयम में संलग्न होना-दोनों ही वर्जित थे। महात्मा बुद्ध ने इस संबंध में मध्यम प्रतिपदा या मार्ग का उपदेश दिया।

बौद्ध धर्म मूलतः अनीश्वरवादी अर्थात् ईश्वर और आत्मा को नहीं मानता था। इस बात को हम भारत के धर्मों के इतिहास में क्रांति कह सकते हैं। तर्क यह है कि यदि ईश्वर संसार का रचयिता है तो सभी दुखों को उत्पन्न करने वाला भी वही है। अनात्मवाद अर्थात् आत्मा की सत्ता में बुद्ध को विश्वास नहीं था। उनका मत था कि जीवन विभिन्न क्रमबद्ध अवस्थाओं का प्रवाह है। पूर्ववर्ती अवस्था वर्तमान अवस्था को और वर्तमान अवस्था आगामी अवस्था को उत्पन्न करती है। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पूर्वापर कारण-कार्य का संबंध रहता है। वर्तमान जीवन की अंतिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति होती है। पुनर्जन्म का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा नित्य है। पुनर्जन्म की मान्यता इस धर्म में है पर आत्मा को शाश्वत और चिरस्थायी नहीं माना गया। प्रत्येक वस्तु को परिवर्तनशील और नाशवान माना है। मिलिन्द प्रश्न में कहा गया है कि जिस प्रकार पानी में एक लहर उठकर दूसरे को जन्म देकर स्वयं लुप्त हो जाती है उसी प्रकार कर्म-फल चेतना के रूप में पुनर्जन्म का कारण होता है। एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रकाशित किया जा सकता है परंतु दोनों ज्योतियाँ एक दूसरे से पृथक हैं।

जैसे दुःख समुदय का कारण जन्म है उसी प्रकार जन्म कारण भी कर्म-फल उत्पन्न करने वाला अज्ञान रूपी चक्र है जिसे प्रतीत्य (इससे होने वाली) समुत्पाद (यह उत्पन्न होता है) कहा जाता है जो जीवन चक्र के 12 कारणों से उत्पन्न होता है। गौतम बुद्ध के अनुसार अनासक्ति के मार्ग में दुर्भावना, नासमझी, अहंकार और अनिश्चितता ऐसी बाधाएँ हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। आत्मसंयम, संवृतियों का विभेदीकरण ऊर्जा, आनंद, प्रशांति, एकाग्रता और समचितता बुद्ध प्रज्ञा के लिए आवश्यक माने गए हैं। मनुष्य को सदगुणों के मार्ग को अपनाने के लिए हितैषणा, करुणा और सहानुभूतिपरक आनंद का उपयोग करना चाहिए। कर्म सिद्धांत को मान्यता देते हुए गौतम बुद्ध ने कहा कि हमारा वर्तमान हमारे भूतकाल में किए गए कर्मों का प्रभाव रखते हैं। अपने किए गए कर्मों का फल प्राप्त करने के लिए ही हमें पुनर्जन्म लेना पड़ता है। परन्तु अपने भाग्य को बनाना मनुष्य के कर्मों पर निर्भर है। तथा गृह या मध्यम प्रतिपक्ष को अपनाते हुए मनुष्य को निर्वाण का मार्ग अपनाना चाहिए।

9.5.3 बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण

बौद्ध धर्म अपनी विशेषताओं के कारण सामान्य लोगों को आकर्षित कर सका। दार्शनिक वाद-विवादों में न फंसकर इस धर्म ने ईश्वर और आत्मा को नहीं माना। क्योंकि इस धर्म ने वर्ण-व्यवस्था की निंदा की इसलिए यह विशेष रूप से निम्न वर्णों का समर्थन पा सका। संघ में स्त्रियों का प्रवेश ने इस धर्म को अधिक उदार और जनतांत्रिक का रूप दिया। बुद्ध के व्यक्तित्व और धर्मोपदेश की प्रणाली बौद्ध धर्म के प्रचार में अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हुई। वे बुराई को भलाई से और घृणा को प्रेम से निभाते थे। जनसाधारण की भाषा पाली को अपनाने से बौद्ध धर्म को बल मिला। बुद्ध, संघ और धम्म की पालन ही बौद्ध धर्म के प्रमुख अंग माने गए। मगध, कोसल और कौशांबी के राजाओं और अनेक गणराज्यों ने बौद्ध धर्म को अपनाया। प्राचीन भारत की कला पर भी बौद्ध धर्म का स्पष्ट प्रभाव पड़ा। भारत में पूजित पहली मानव-प्रतिमाएँ शायद बुद्ध की ही हैं। बिहार के गया में और मध्य-प्रदेश के साँची और भरहुत में चित्रफलक (पैनल) बौद्ध कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

9.5.4 बौद्ध संप्रदाय: हीनयान और महायान

बौद्ध धर्म हीनयान और महायान दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। हीनयान महात्मा बुद्ध के द्वारा बताए गए मार्ग को पूर्ण रूप से अपनाना चाहते थे कोई बदलाव नहीं स्वीकार करते थे। परंतु महायान कई बोधिसत्वों के उपदेशों से भी प्रभावित हुए। दोनों जन्म और मृत्यु के संदर्भ में विश्वास रखते थे कि गौतम बुद्ध ने अनेक जन्म लिए और निर्वाण प्राप्त करने से पहले वे बुद्धत्व ही थे और भविष्य में पुनर्जन्म लेंगे पर जन्म और मृत्यु के कारण दोनों मर्तों के अनुसार अलग थे। हीनयान मानते थे विभिन्न जन्म निर्वाण प्राप्ति के मार्ग की ओर ही प्रदर्शित थे। परंतु साधारण मनुष्य के रूप में ही बुद्ध ने मुक्ति प्राप्त कर निर्वाण लिया। परंतु महायान बुद्ध को भगवान का ही अवतार मानते थे। हीनयान निर्वाण को ही चरम लक्ष्य मानते थे ये जीवन का पर महायान समाज सुधार ही जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते थे। हीनयान निर्वाण को जन्म-मृत्यु के बंधन से छुटकारा मानते थे पर महायान निर्वाण को मनुष्य को परमात्मा से मिलन मानते थे। हीनयान गौतम बुद्ध को जन्म-मरण के चक्र से अलग नहीं मानते थे पर महायान गौतम बुद्ध को इस चक्र से परे सदैव अवतार के रूप में बने रहने का विश्वास करते थे। हीनयान सदैव मनुष्य का उत्थान और अच्छे कर्म ही निर्वाण के लिए अनिवार्य मानते थे पर महायान गौतम बुद्ध के सिद्धांतों में विश्वास और अपने आपको समर्पण करना ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य मानते थे।

9.5.5 बौद्ध-धर्म के पतन के कारण

कई शताब्दियों तक बौद्ध धर्म भारत में सफल रहा परंतु अवैध गतिविधियों के कारण, बौद्ध धर्म में विभाजन, संस्कृत को अपनाने के कारण, भिक्षुओं की अनैतिकता, विहारों की अपार संपत्ति और धर्म का अनीश्वरवाद इस धर्म के हास के कारण बन गए। दूसरी ओर हिंदु धर्म ने अपने धर्म की त्रुटियों में सुधार किया और ईश्वरवाद के द्वारा भारतीय जनता को भगवान के प्रति आस्था में विश्वास दिलवाया। समय की पुकार के अनुसार तत्कालीन राज्यों ने अहिंसा को छोड़कर नए विचारों को अपनाया जिनसे उन्हें सफलता प्राप्त हुई। इन सब कारणों से बौद्ध धर्म जिस देश में जन्मा था वहीं अपनी सत्ता गंवा बैठा।

9.6 जैन धर्म और बौद्ध धर्म के बीच समानता और विरोधाभास

जैन धर्म और बौद्ध धर्म में बहुत कुछ सामान्य है। दोनों एक ही समय में आए। दोनों समकालीन थे और दोनों का उद्भव मगध में ही हुआ था। दोनों की सामान्य पृष्ठभूमि में आर्य-संस्कृति ही थी। दार्शनिक मतों में दोनों के संस्थापकों में समानता थी। दोनों वेदों की प्रामाणिकता और वैदिक पुरोहितों को नकारते थे। दोनों धार्मिक अनुष्ठानों और

औपचारिकताओं की आलोचना करते हैं। दोनों पशु-वध की निंदा करते हैं। दोनों अनीश्वरवाद हैं। जैन धर्म स्वयं को अपना भाग्य-विधाता मानते हैं। दोनों के लिए जन्म पर आधारित भेद-भाव निरर्थक है। दोनों अहिंसा के प्रबल समर्थक हैं। दोनों पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं और कर्मवाद में विश्वास रखते हैं। दोनों जीवन की दुखालय मानकर सेवा पर बल देते हैं। इन समानताओं के बावजूद दोनों धर्मों में बुनियादी बातों पर तीव्र मत भेद हैं। जैन धर्म आत्मदान को महिमा देता है पर बौद्ध धर्म मध्यम मार्ग अपनाने को प्रेरित करता है। बौद्ध धर्म आत्मा की सत्ता नहीं मानता, जैन धर्म विश्व के पदार्थ अथवा कण में आत्मा (जीव) का निवास मानता है। दोनों की मुक्ति और निर्वाण की धारणाओं में मतभेद है। दोनों के मठों और विहारों की भूमिका, महता और संरचना में अत्यधिक भेद हैं। किन्तु दोनों महाचार्य ने मानव विचारधारा संस्कृति, साहित्य और कला पर अमिट प्रभाव डाला है।

प्रगति जाँच अभ्यास 4

क. संक्षिप्त टिप्पणी:

- (i) बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण
- (ii) जैन धर्म और बौद्ध धर्म के बीच समानता और विरोधाभास

क. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न:

- (i) महावीर द्वारा दिए गए उपदेशों की चर्चा करते हुए एक निबंध लिखें।
- (ii) छठी सदी ईसा पूर्व में उत्तर-पश्चिमी भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर चर्चा करें।

9.7 सारांश

- छठी शताब्दी ईसा पूर्व का काल मध्य गंगा घाटी के मैदान में अनेक धार्मिक पंथों के उभार का साक्षी बना जिनमें जैन और बौद्ध सर्वाधिक लोकप्रिय हुए।
- ये नए धार्मिक विचार प्रचलित सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों की उपज थे।
- दोनों, बौद्ध और जैन धर्म अपने युग के बौद्धिक, आध्यात्मिक और सामाजिक कारकों के प्रतिफल थे जो मौजूदा ब्राह्मणवादी व्यवस्था के लिए चुनौती के रूप में पैदा हुए थे।
- बुद्ध और महावीर सुधारकों के रूप में आए जो हिन्दू धर्म की असंख्य बुराइयों और कर्मकांडों को मिटने हेतु दृढ़प्रतिज्ञ थे।

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. देखें खंड 9.2.1

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. (i) सही (ii) सही (iii) सही (iv) गलत (v) सही

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. (i) गलत (ii) सही (iii) गलत (iv) सही (v) सही

प्रगति जाँच अभ्यास 4

क. संक्षिप्त टिप्पणी:

(i) देखें खंड 9.5.4

(ii) देखें खंड 9.6

ख. दीर्घ-उत्तरीय खंड

(i) देखें खंड 9.4.2

(ii) देखें खंड 9.3

पाठ 10

आरंभिक राज्यों एवं नगरों का उदय

पाठ्य-रूपरेखा

- 10.0 उद्देश्य
- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 प्रादेशिक राज्यों का उदय
 - 10.2.1 भौतिक स्थिति
 - 10.2.2 जनपद और महाजनपद
- 10.3 नगरों का उदय
 - 10.3.1 बदलता सामाजिक-आर्थिक परिवेश
- 10.4 गणसंघ
- 10.5 सोलह महाजनपद
- 10.6 उपसंहार
- 10.7 सारांश

10.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन आपको निम्नलिखित विषयों में सक्षम बनाता है-

- छठी शताब्दी ईसा पूर्व में देश के विभिन्न भागों में कई क्षेत्रीय राज्यों के उद्भव के कारणों का निर्धारण
- प्राचीन भारत के इतिहास में छठी सदी ईसा पूर्व का महत्व
- अनेक जनपदों और महाजनपदों के उदय की व्याख्या

10.1 प्रस्तावना

ईसा पूर्व छठी से चौथी सदी का समय भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण माना जाता है। हमने पहले पाठ में पढ़ा है कि यह प्रबल दार्शनिक मंथन का युग था। इस अवधि के दौरान बौद्ध, जैन और कई अन्य गैर-धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ। धर्म की तरह ही छठी सदी ई. पू. के राजनीतिक परिवर्तन भी उस समय की बदलती भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर थे। सामाजिक और आर्थिक जीवन में भी अनेक विकासात्मक बदलाव हुए जिनके कारण जन साधारण के जीवन में भी अनेक सुधार आए। कृषि की स्थिति के हिसाब से गंगा की घाटी में एक नया प्रकार का समाज बसना शुरू हुआ। यही कारण है कि इतिहासकार इस काल को भारतीय इतिहास के प्रारंभिक ऐतिहासिक युग की शुरुआत मानते हैं।

10.2 प्रादेशिक राज्यों का उदय

ईसा पूर्व छठी सदी से पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार में लोहे के व्यापक प्रयोग से बड़े-बड़े प्रादेशिक या जनपद राज्यों की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त परिस्थिति बन गई। लोहे के हथियारों के इस्तेमाल के कारण योद्धा वर्ग महत्वपूर्ण

स्थान ग्रहण करने लगे। खेती के नए औजारों और उपकरणों की सहायता से उपज बढ़ गई थी। अनाज अत्यधिक होने के कारण सेना और नए राज्यों तक भी पहुँचाया जा सकता था। इन भौतिक लाभों के कारण किसान अपनी भूमि पर ही रहना चाहता था और कोई बदलाव स्वीकार करना नहीं चाहता था। इस प्रकार क्षेत्रीय भावना का उदय हुआ और फलस्वरूप कई राज्यों और उनकी गतिविधि केंद्र के तौर पर अनेकानेक नगरों की स्थापना हुई। जनसमूह या कबीलों में रहने वाले लोगों को अब अपने जनपद या स्वसंबद्ध भू-भाग से लगाव होने लगा। इस प्रकार छठी सदी ईसा पूर्व में देश के विभिन्न भागों में कई प्रादेशिक राज्यों का उदय हुआ जिसने तत्कालीन राजनीतिक जीवन को नया स्वरूप प्रदान किया।

10.2.1 भौतिक स्थिति

समकालीन साहित्य में महाजनपद, जनपद, नगर, निगम, ग्राम आदि बस्तियों का उल्लेख है। जनपद अर्थात् जहाँ लोग अपने पाँव रख सकें या जमा सके। वैदिक काल में जन के सदस्य पशुओं के लिए हरी-भरी जगह ढूँढते थे परंतु उत्तर-वैदिक काल में जब मनुष्य (जन) ने खेती-बाड़ी आरंभ कर दी तो वह स्थायी रूप से एक स्थान पर रहने लगा। ये कृषि प्रधान स्थान जनपद कहलाए। पारंपरिक साहित्य के अनुसार सोलह महाजनपद बड़े क्षेत्रगत राज्य थे और प्रत्येक राज्य के अंदर अनेक कृषि-बस्तियाँ या जनपद मौजूद थे। प्रारंभ में, इन बस्तियों का नामकरण उस क्षेत्र में बसे प्रमुख क्षत्रिय वंश के नाम पर किया गया। दिल्ली और ऊपरी उत्तर प्रदेश स्थित कुरु और पांचाल इसके प्रमुख उदाहरण हैं। फाल के उपयोग और लौह उपकरणों की खोज के साथ लोगों ने एक जगह बस कर खेती करने का फैसला किया। किसान अब लोहे के औजारों का प्रयोग करते हुए जंगल को साफ़ कर उसे कृषि योग्य भूमि बना सकने में सक्षम थे। मध्य गंगा-घाटी विशेषकर इलाहाबाद को धान की खेती के लिए उपयुक्त जगह माना जाने लगा। कृषि का विस्तार जनसंख्या में बढ़ोतरी का कारण बना। अब कृषि अधिशेष उपलब्ध हो पा रहा था। पशु-धन की महत्ता घट गयी। वस्तु-विनमय प्रणाली की जगह मुद्रा-प्रणाली ने ले ली। इसने वंश अर्थात् जन-समूह के प्रमुखों को एक-दूसरे के साथ निरंतर युद्ध की स्थिति में ला खड़ा किया। युद्ध या तो अपना पराक्रम दिखाने या अपनी वित्तीय शक्ति को प्रबल बनाने का माध्यम बन गया। कृषि-विस्तार, युद्ध एवं विजय की प्रक्रिया में वैदिक जनजातियाँ और गैर वैदिक जनजातियाँ परस्पर निकट आए और उनमें घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ। वास्तव में यह बड़े प्रादेशिक इकाइयों के गठन का कारण बना। उदाहरण के लिए पांचाल पाँच जनजातियों के मिलाप का प्रतिनिधि था। क्षत्रिय समूहों का सरदार राजन अर्थात् राजा कहलाया जिन्होंने जनपद और महाजनपद पर शासन किए।

विभिन्न नगरों के निर्माण में नए सामाजिक संगठन विभिन्न व्यवसायों को अपना रहे थे और समाज के प्रत्येक वर्ग में भिन्न-भिन्न व्यवसायों को अपनाने के लिए अनेक नगरों का उत्थान हुआ। शहरी और ग्रामीण केन्द्रों में अंतर स्थापित हुआ। कृषि उत्पादन में व्यस्त व्यक्तियों को अपने उत्पादन की बढ़ोतरी से नगरों के व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति होने लगी। दूसरी ओर नगर में बसने वाले लोग गाँवों से उत्पादन प्राप्त कर अपनी रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करते थे और बदले में किसानों को खेती-बाड़ी के लिए नए उपकरणों आदि से प्रोत्साहित करते थे। कर प्रणाली भी आरंभ हो गई। ग्रामीण लोगों और शहरी निवासियों के बीच आदान-प्रदान से सुविधा पहुँचाने के लिए कुछ लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। ये लोग सेट्टी के रूप में उभरे जो न केवल आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण माने जाने लगे बल्कि बड़े जमींदार भी समझे गए। इस समय में विभिन्न धातुओं से बने सिक्के भी व्यवसाय में सहायक सिद्ध हुए। इन सब कारणों से नगर और ग्राम में ताल मेल बढ़ता गया।

इस पृष्ठभूमि में जनपद और महाजनपद उभर कर आए।

10.2.2 जनपद और महाजनपद

हमें जनपद और महाजनपद संबंधी जानकारियां वैदिक तथा बौद्ध साहित्य से मिलती है। इन ग्रंथों से विभिन्न प्रदेशों एवं भौगोलिक क्षेत्रों की स्पष्ट जानकारी मिलती है। हस्तिनापुर, कौशाम्बी, उज्जैनी, श्रावस्ती और वैशाली की खुदाई से समृद्ध कृषि-अधिवास और नगरों का पता चलता है। समकालीन ग्रंथों में भी समाज और अर्थव्यवस्था में परिवर्तन जो सुपरिभाषित भौगोलिक स्थान में आकर ग्रहण कर रहे थे, के संकेत मिलते हैं।

जनपद

जनपदों का अभ्युदय भारतीय इतिहास में भौगोलिक संस्कृति का जन्म माना जाता है। कबीलों में रहने वाला मनुष्य एक जगह से दूसरे जगह खाने की तलाश में भटकता था। मनुष्य अपने कबीले के साथ ही जुड़ा रहता था क्योंकि यह उन लोगों का समूह था जो दिनचर्या में एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए थे। बदलते समय में परिवर्तन होने लगे और मनुष्य एक स्थान पर बस कर अपनी जरूरतों के अनुसार कुछ खेती-बाड़ी करने लगा। प्रत्येक समूह किसी न किसी प्रकार के खाद्य पदार्थ की उपज में लगा रहता था। अब मनुष्य को एक स्थान पर रहने की आवश्यकता पड़ी और अपने जीवन में स्थिरता लाने के लिए वह अपनी उपज को दूसरे समूह के साथ बाँटकर और दूसरे समूह की उपज अपने समूह में लाकर जीवन का निर्वाह करने लगा। इस प्रकार स्थायी जीवन बिताने की शुरुआत हुई। यहाँ जनपद का निर्माण हुआ। प्रत्येक जनपद के भीतर संगठन था परंतु दूसरे जनपद से निरंतर विरोध रहता था। प्रत्येक जनपद के अपने रीति-रिवाज, भाषा और विचारधारा थी जो दूसरे जनपदों से भिन्न थी।

समुन्नत खाद्य-उत्पादन अर्थव्यवस्था के कारण नियमित वसूली और लंबे समय के लिए सेना का रखरखाव संभव हुआ और ऐसी स्थिति पैदा हुई जिसमें बड़े-बड़े जनपद राज्य बन और टिक सकते थे। पाणिनि ने 450 ई. पू. तक 40 जनपदों का विवरण किया है जो अफगानिस्तान और मध्य एशिया तक फैले हुए थे।

महाजनपद

छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक के कुछ जनपदों का विकास महाजनपद के रूप में हुआ। ऐसा जनपदों के आंतरिक सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक संगठन में बदलाव की श्रृंखला के परिणामस्वरूप हुआ। उदाहरण के लिए कृषि में विस्तार एक ऐसा ही महत्वपूर्ण परिवर्तन था। कृषि भूमि अब मवेशियों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक परिसंपत्ति बन गई। एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन था समाज में लोगों के नए-नए वर्गों या श्रेणियों का उदय जो गहपति अर्थात् परिवार का मुखिया या मालिक कहलाया। बौद्ध ग्रन्थ में उल्लिखित इस पद (गहपति) का आशय भू-स्वामी, व्यापारी या प्रमुख व्यक्ति से है जो धन का लेन देन करता था और जिसने काफी प्रतिष्ठा और शक्ति अर्जित कर ली थी। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में विकास के साथ संयुक्त रूप से महाजनपद की राजनीतिक प्रकृति भी बदल रही थी। हमारे अध्ययन की अवधि से पहले के काल में राजा कबीला विशेष का प्रमुख होता था। राम को रघुकुल का राजा कहा गया है अर्थात् वह रघु कबीला के प्रमुख थे। इसी प्रकार युधिष्ठिर कुरु-राजा था। वे अपने कबीला पर शासन करते थे और प्रदेश विशेष पर शासन की अवधारणा का विकास तब तक नहीं हुआ था। कर एक प्रकार का स्वैच्छिक अनुदान था। राजा पिता तुल्य था जो कबीला या समूह की सुरक्षा और समृद्धि सुनिश्चित करता था। वह स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकता था और कर-निर्धारण या स्वतंत्र सेना के रखरखाव के लिए उसे विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे। दूसरी तरफ़ छठी शताब्दी ईसा पूर्व में राजा अपने भौगोलिक क्षेत्र पर शासन करता था जहाँ उसकी सेना थी और वह नियमित रूप से कर लेता था। राजा या शासक और प्रजा या नियम के बीच का विभेद और अधिक स्पष्ट हो गया। कृषक अर्थात् किसान के सन्दर्भ भी मिलते हैं जो राजा को कर का भुगतान करते थे। पूर्ववर्ती अवधि के मवेशी छापा अब संगठित

अभियान, जिसमें राज्य दूसरे प्रदेश पर कब्जा कर लेता था और वहाँ के किसानों और कारीगरों से कर लेता था, में बदल चुका था। प्रजा द्वारा कृषि उपज की हिस्सेदारी या भग राजा की अधीनता में होने के कारण स्वयं के हितों की रक्षा और कल्याण के लिए दिया जाता था। कृषि भूमि का सर्वेक्षण करने वाले अधिकारी रज्जूगाहक कहलाते थे जबकि भग जमा करने वाले अधिकारी को भगदुघ कहा जाता था। समकालीन साहित्य में इन अधिकारियों का उल्लेख हुआ है। जातक भी अनाज मापकर शाही अन्न भंडार को भेजने वाले सरकारी अधिकारियों का वर्णन करते हैं। महाजनपदों का नामकरण प्रमुख क्षत्रिय कबीलों के नाम पर नहीं हुआ। उदाहरण के लिए कोशल, मगध, अवंति, वत्स इत्यादि किसी भी जनपद का नाम कबीलों के नाम पर आधारित नहीं है। इस प्रकार छठी सदी ईसा पूर्व में एक नयी राजनीतिक व्यवस्था उभर कर सामने आई। महाजनपद शब्द का प्रयोग बड़े जनपदों जैसे मगध, कोशल इत्यादि के लिए किया जाता था जिनपर कुलीन तंत्र या शक्तिशाली राजाओं का शासन था। वास्तव में, छठी शताब्दी ईसा पूर्व के महाजनपद कई जनपदों, जो पहले स्वतंत्र थे, के मिलने से बने थे। उदाहरण के लिए, कोशल महाजनपद में शाक्य और काशी जनपद मिल गए थे। तो साम्राज्य बनने से पूर्व में ही मगध महाजनपद में अंग, वज्जि आदि जनपद शामिल हो चुके थे।

महाजनपद में अधिवास की बुनियादी इकाई था ग्राम अर्थात् गाँव। कृषि इन अधिवास के लोगों का मुख्य व्यवसाय था। यह पशुचारिता और खानाबदोश जीवन से कृषि आधारित स्थायी अर्थव्यवस्था में संक्रमण को दर्शाता है। गाँव में परिवार के आकार के आधार पर छोटे-बड़े घर थे। संभवतः गाँवों में फैले लोग राजा के वंश से ही संबद्ध थे और सभी आपस में परस्पर संबंधी थे। ऐसे परिवार जिनके पास खेती योग्य पर्याप्त जमीन थी और जो दासों, कर्मकारों और पोरिसस की सेवा लेते थे, के उदय के साथ-साथ बिना रिश्तेदारी वाले लोगों से बसे गाँव भी अस्तित्व में आए। जमीन के स्वामित्व और किरायेदारी का जिक्र भी समकालीन साहित्य में मिलता है। क्षेत्रिका और कस्सका पद किसान वर्ग की ओर संकेत करते हैं जो क्षुद्र जाति से जुड़े थे। चूँकि जाति व्यवस्था पूरी तरह से सामाजिक और आर्थिक पदानुक्रम में आरोपित किया गया था, इसलिए इन किसानों को पदानुक्रम के सबसे निचले पायदान का हिस्सा होना चाहिए। गाँव के नेता को गामिनी कहा गया जो सैन्य पड़ावों, सैनिकों, हाथी और घुड़सवारों के प्रशिक्षकों का प्रबंधन देखता था। पशु-पालकों, लोहारों और बढ़ई के गाँवों के संदर्भ शिल्प विशेषज्ञता की ओर इशारा करते हैं। व्यापार और अर्थव्यवस्था का अंदाजा ग्रामीणों की कृषि के साथ-साथ विविध शिल्प-कला में संलग्नता से लगाया जा सकता है। वस्तु-विनमय प्रणाली और मालों का नियमित आदान-प्रदान लोगों के आर्थिक जीवन का एक अभिन्न हिस्सा बन गया। लोगों के स्थानीयकरण के साथ शिल्प की विशेषज्ञता ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण बदलावों की पृष्ठभूमि तैयार की।

प्रगति जाँच अभ्यास-1

क. सही गलत बताएँ:

- (i) मध्य गंगा-घाटी विशेषकर इलाहाबाद को धान की खेती के लिए उपयुक्त जगह माना जाने लगा।
- (ii) छठी शताब्दी ईसा पूर्व में देश के विभिन्न भागों में कई क्षेत्रीय राज्यों के उदय ने नए राजनीतिक जीवन की पृष्ठभूमि तैयार की।
- (iii) मध्य गंगा-घाटी विशेषकर इलाहाबाद को गेहूँ की खेती के लिए उपयुक्त जगह माना गया।
- (iv) महाजनपदों के अस्तित्व में आने से पहले कबीला के राजा स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकता था और कर-निर्धारण या स्वतंत्र सेना के रखरखाव के लिए उसे विशेषाधिकार प्राप्त थे।

(v) क्षेत्रिका और कस्सका पद किसान वर्ग की ओर संकेत करते हैं जो क्षुद्र जाति से जुड़े थे।

10.3 नगरों का उदय

ईसा पूर्व की छठी सदी का काल भारत में दूसरी बार नगरों के उदय का साक्षी बना। यह शहरीकरण और अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह लंबे समय तक चला और साथ ही इसने एक साक्षर परंपरा की शुरुआत को देखा। यह परंपरा बौद्ध, जैन और हिंदू धर्म की कई कड़ियों में सन्निहित है। इस काल में केवल बड़े नगरों का ही विकास नहीं हुआ अपितु कृषि आधारित गाँवों के साथ-साथ बाजार, छोटे नगर और अन्य प्रकार के अधिवास अस्तित्व में आए।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में नगरों के उदय को समझने के लिए बदलते सामाजिक-आर्थिक परिवेश के मद्देनजर हमें राजनीतिक सत्ता और गतिविधि के नए केंद्रों की स्थापना की आवश्यकता को प्रमुखता से समझना होगा। शहरी केंद्रों की स्थापना का मतलब केवल किसी क्षेत्र विशेष की जनसंख्या में वृद्धि से नहीं है। शहरी केंद्र अथवा नगर आकार में निश्चित तौर पर बड़े हैं जहाँ लोग केवल कृषि आधारित गतिविधियों से संलग्न नहीं हैं अपितु कई गैर-कृषिक गतिविधियों से भी जुड़े हैं। इसके अलावा, शहरी केंद्र दूर-दराज के इलाकों से संबंध कायम रखने में सहायक हैं। दूसरे शब्दों में नगर ग्रामीण इलाकों के संसाधनों का उपभोग करने में सक्षम हैं। साथ ही नगर ग्रामीण क्षेत्रों के लिए प्रशासनिक, आर्थिक व धार्मिक सेवाएं मुहैया करा सकते हैं जहाँ नगरों की अपेक्षा अधिक आबादी बसती है। यह नगर में रहने वाले राजाओं, पुरोहितों और व्यापारियों के एक वर्ग के उद्भव को बढ़ावा देता है जो आम आदमी की तुलना में अधिक अमीर और शक्तिशाली हो सकते हैं। लोगों के विभिन्न समूहों के बीच आर्थिक असमानता को कम रखने और अमीर एवं गरीब के बीच संघर्ष को रोकने के लिए राज्य में केंद्रीकृत मशीनरी की जरूरत होगी। इस प्रकार की सामाजिक संरचना भी राज्य-समाज के अस्तित्व में आने की ओर इशारा करता है। हालांकि यह इस पृष्ठभूमि के खिलाफ है कि शहरी समाज और उनके उदय का अध्ययन शिल्प विशेषज्ञों, अमीर व गरीब लोगों और एक राज्य प्रशासन की उपस्थिति के आधार पर किया जाना चाहिए।

10.3.2 बदलता सामाजिक-आर्थिक परिवेश

छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक अनुष्ठान गतिविधि में माहिर ब्राह्मणों की स्थिति संदिग्ध होने लगी। योद्धा वर्ग या क्षत्रिय जमीन मालिकों (जमींदारों) के एक वर्ग के रूप में सामने आया। उन्होंने कृषि पर आधारित एक स्थायी जीवन को महत्व दिया और इस प्रकार लौह-प्रौद्योगिकी की शुरुआत जंगलों की सफाई में वृद्धि और कृषि-अधिशेष के लिए एक वरदान साबित हुई। मध्य गंगा घाटी लौह-उपकरण के प्रयोग और धान की खेती का केंद्र बन गया। खाद्योत्पादन में सतत वृद्धि ने स्थायी जीवन में बढ़ोतरी को प्रेरित किया जो छठी सदी ईसा पूर्व से चौथी सदी ईसा पूर्व की अवधि के पुरातात्विक आंकड़ों में बस्तियों की संख्या में वृद्धि से परिलक्षित होता है। वे समूह जो अधिशेष संपत्ति को नियंत्रित करते हुए उभरे, नवोदित राज्यों के शासक बन बैठे। और इस संपत्ति की नींव पर छठी शताब्दी ईसा पूर्व के शहरों का जन्म हुआ।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में शहरों की बढ़ोतरी का उल्लेख तत्कालीन ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ग्रंथों में मिलता है। इस काल में प्राचीन भारतीय इतिहास में पहली बार साहित्य में लेखन की परंपरा शुरू हुई। शहरों के उद्भव के इस सबूत की पुष्टि पुरातात्विक स्रोतों से भी होती है। ऊपरी गंगा घाटी में लोग गैरिक मृदभांड का उपयोग करते थे जबकि मध्य गंगा घाटी के लोग काला और लाल मृदभांड प्रयोग में लाते थे। छठी सदी ईसा पूर्व के आस पास सम्पूर्ण क्षेत्र में लोगों ने नॉर्दर्न ब्लैक पॉलिशड वेयर (एन.बी.पी.डब्लू.) का उपयोग शुरू कर दिया था जो छठी शताब्दी ईसा पूर्व में गंगा-घाटी के शहरों में व्यापक सांस्कृतिक एकरूपता को प्रदर्शित करता है। संभवतः व्यापारियों के द्वारा जारी किए गए चाँदी और

तांबा के आहत सिक्के इस काल में संस्थागत व्यवसाय की तरफ इशारा करते हैं। विनिमय प्रणाली में मुद्रा की शुरुआत साहूकार-वर्ग के उद्भव का कारण बना। तो व्यापार में वृद्धि और विकासशील अर्थव्यवस्था ने कौशाम्बी, उज्जैन, राजघाट (वाराणसी), राजगीर आदि शहरों की भारी किलेबंदी का मार्ग प्रशस्त किया। ये शहर महाजनपदों के सत्ता और नियंत्रण का केंद्र बन कर उभरे। ग्रामीण क्षेत्रों से अलग शहरी क्षेत्रों की सुरक्षा हेतु किलेबंदी को दर्शाने के लिए पुर या दुर्ग शब्द का प्रयोग इस बात का महत्वपूर्ण संकेत है कि शहरों का उदय राजनीतिक सत्ता के केंद्र के साथ-साथ व्यावसायिक गतिविधियों के केंद्र के रूप में भी हो रहा था। पालि साहित्य में निगम शब्द का प्रयोग कुशल कारीगरों की बस्ती के रूप में हुआ है। नगर शब्द सामान्यतः कस्बों या शहरों के लिए इस्तेमाल किया गया है जो पुर के राजनीतिक क्रियाकलापों और निगम के व्यावसायिक कार्यों का संयुक्त केंद्र था। बौद्ध ग्रंथ मध्य गंगा घाटी के छः महानगरों का उल्लेख करते हैं जिनके नाम हैं: चंपा, राजगीर, काशी, श्रावस्ती, साकेत और कौशाम्बी।

10.4 गणसंघ

छठी सदी ईसा पूर्व के दौरान भारत कई स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था और उत्तर भारत में एक भी सर्वोपरि शक्ति नहीं थी। इन राज्यों में अधिकांश में राजशाही थी। हालांकि उनमें से एक बड़ी संख्या गणसंघों या संवैधानिक कुलीनतंत्र की थी। इस संबंध में हिन्दू ग्रंथों की अपेक्षा बौद्ध तथा जैन ग्रंथ अधिक जानकारी मुहैया कराते हैं। बौद्ध ग्रंथों में निम्नलिखित गणसंघों की चर्चा मिलती है:

- हिमालय की तराई में नेपाल के निकट कपिलवस्तु के शाक्य
- पूर्वी उत्तर प्रदेश की सुमसुमारा पहाड़ी के भग
- बिहार में शाहाबाद और मुजफ्फरपुर जिले के मध्य अल्कप्पा के बुति
- केसपुत्त के कलमा
- रामगाँव के कोलिय
- पावा के मल्ल- आधुनिक बिहार का फ़ज़िल्लपुर
- कुशिनारा के मल्ल- पूर्वी उत्तर प्रदेश का आधुनिक कसिया
- हिमालय की तराई में पिपलीवन के मोरिय
- मिथिला का विदेह- नेपाल की सीमा से लगा आधुनिक जनकपुर
- वैशाली के लिच्छवी- आधुनिक बिहार का मुजफ्फरपुर

समय के साथ गणराज्य अर्थात् गणसंघ के बदलते स्वरूप के आधार पर इसकी अवधारणा की अनेक प्रकार से व्याख्या की गयी है। सरलतम अर्थों में यह राजशाही के ठीक विपरीत, राज्य या शासन का वह रूप है जिसमें वंशानुगत राजा नहीं होता। ब्रिटैनिका विश्वकोश के मुताबिक गणसंघ वे राज्य हैं जहाँ सर्वोच्च शक्ति आम जनता या उनके द्वारा चयनित प्रतिनिधि अधिकारियों में निहित होती है और लोग उन्हें अपने कर्तव्यों के पालन और अपेक्षित प्रदर्शन में समर्थ होने हेतु पर्याप्त शक्ति सौंप देते हैं। इस व्यवस्था में राज्य प्रमुख आम तौर पर सीधे चुने जाते हैं और इस प्रकार यह वंशानुगत राजशाही से भिन्न है।

ए.एस. अल्तेकर बताते हैं कि गणराज्यों का एक निश्चित संवैधानिक अर्थ था। क्योंकि गणसंघ सरकार का ऐसा स्वरूप दर्शाते हैं जहाँ शक्ति जनता में नहीं वरन जन-समूह अर्थात् 'गण' में निहित होती थी। राजशाही से भिन्न 'संघ' भी इसी

भाव-बोध वाला एक और शब्द है। अल्लेकर द्वारा राजनीतिक पद 'गण' की इस परिभाषा का आधार हैं- पाणिनि रचित अष्टाध्यायी, कात्यायन लिखित ग्रन्थ और महाभारत।

छठी सदी ईसा पूर्व में राजशाही के साथ-साथ गणसंघों के अस्तित्व का पता अवदांतशतक से चलता है जो मध्य-भारत से दक्कन तक व्यापारियों के यात्राओं का विवरण है। जैन अयंगसूत्र, भगवतीसूत्र और किंवदंतियां भी इस अवधि में गणसंघों की मौजूदगी का संकेत देते हैं। बौद्ध सिद्धांत और जातक कथाएं उत्तर प्रदेश और उत्तरी बिहार के गणसंघों का उल्लेख करते हैं। गणसंघ सरकार की मौजूदगी इस काल की विलक्षण राजनीतिक प्रगति का द्योतक है। शोभा मुखर्जी के मुताबिक इस अवधि में अनेकानेक राजशाहियों के उदय व पतन ने गणसंघों को फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया जहाँ लोग संगठन के अनुभव से दो-चार हुए। ऐतिहासिक काल में उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों के साथ-साथ पंजाब में गणसंघ विद्यमान थे। बौद्ध जातक कथा उत्तर प्रदेश और बिहार के गणसंघों की चर्चा करते हैं। लेकिन लिच्छवि और शाक्य को छोड़ दें तो बाकी गणसंघों के राजनीतिक इतिहास के बारे में बहुत कम ही ज्ञात है।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. संक्षेप में छठी शताब्दी ईसा पूर्व के सामाजिक-आर्थिक परिवेश पर चर्चा करें।

10.5 सोलह महाजनपद

महात्मा बुद्ध के जीवन काल में बौद्ध ग्रन्थ 16 महाजनपदों का उल्लेख करते हैं। चूंकि तब तक उत्तर भारत में एक भी शक्तिशाली राज्य नहीं था, छठी सदी के दौरान इतनी शक्तियां एक साथ तेजी से उभरीं। एक महाजनपद हजारों गांवों और कुछ शहरों के समूह का प्रतिनिधित्व करता था। ये महाजनपद उत्तरी-पश्चिम पाकिस्तान से लेकर पूर्व में बिहार जबकि उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में गोदावरी तट तक फैले हुए थे। पारंपरिक साहित्य भी छठी शताब्दी के सोलह बड़े राज्यों का उल्लेख करते हैं जिनमें अनेकानेक स्थायी कृषि अधिवास अर्थात् जनपद मौजूद थे।

बौद्ध साहित्य अंगुत्तरा निकाय जो सुत्तपिटक का भाग है सोलह महाजनपदों का विवरण निम्नलिखित नामों से देता है-

- काशी
- कोसल
- अंग
- मगध
- वज्जि
- मल्ल
- चेदी
- वत्स
- कुरू
- पांचाल
- मत्स्य
- सूरसेना
- अश्मक

- अवंति
- गांधार
- कांबोज

महावस्तु जो एक अन्य बौद्ध साहित्य है, गांधार और कांबोज को इन सोलह महाजनपदों में नहीं रखता। वह सीबी और दसर्ना जो क्रमशः पंजाब और मध्य भारत में अवस्थित हैं को इस श्रृंखला में शामिल करता है। जैन साहित्य में भगवतीसूत्र के अनुसार वंग और मल्ल इन महाजनपदों की सूची में आने चाहिए। संभवतः यह सूची इसलिए अलग-अलग है क्योंकि जैन और बौद्ध धर्म अपने-अपने मत के अनुसार जगहों को महत्व देते थे। महाजनपदों की सूची धीरे-धीरे मध्य गंगा घटी की ओर केंद्रित होती जाती है क्योंकि अधिकांश महाजनपद इसी क्षेत्र में फैले हुए थे।

काशी

प्रारम्भ में काशी सभी सोलह महाजनपदों में सर्वाधिक शक्तिशाली महाजनपद था। इसकी जनपद की राजधानी वाराणसी थी। गंगा और गोमती नदी के आवरण में रहने के कारण यह उपजाऊ थी। राजा ब्रह्मदत्त के समय में इसका उत्थान हुआ। समय-समय पर इसके नरेशों का कोसल के साथ युद्ध हुआ। काशी का आर्थिक महत्व इस तथ्य में निहित है कि यह गौतम बुद्ध के समय में ही वस्त्र-निर्माण का अग्रणी केन्द्र बन चुका था। कहा जाता है कि बौद्ध भिक्षुओं के लिए गेरुआ रंग का चोला यहाँ बनाया जाता था। यह घोड़ों की खरीद-बेच के लिए भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान था। आर्थिक दृष्टि से 450 ई. पू. में काशी एक महत्वपूर्ण महाजनपद के रूप में उभर कर आया। दशरथ जातक के अनुसार दशरथ और राम काशी नरेश थे न कि अयोध्या के राजा। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पिता यहाँ के राजा थे। गौतम बुद्ध ने भी अपना पहला उपदेश काशी के समीप सारनाथ में दिया था। परंतु गौतम बुद्ध के समय तक कोसल नरेश ने काशी पर विजय पा ली थी और कोसल नरेश ने काशी को अपने साम्राज्य का अभिन्न अंग मान लिया था जिसके कारण मगध और कोसल में लड़ाई छिड़ गई।

कोसल

कोसल के पश्चिम में गोमती, दक्षिण में सर्पिका या स्यनिदका और पूर्व में गंडक नदी मौजूद थी। उत्तर में नेपाल की पहाड़ियाँ थी और गंडक इसे विदेह से अलग करती थी। कपिलवस्तु के शाक्य कोसल नरेश के अधीन थे। मज्जिम निकाय में गौतम बुद्ध अपने आपको कोसलन संबोधित करते हैं। कोसल के राजा विदुदबा ने शक्यों को पराजित किया था।

छठी सदी ई. पू. के प्रसिद्ध कोसल के सम्राट में हिरण्यभा, महाकोसल प्रसेनजीत और सुधोधन आते हैं। इन राजाओं ने अयोध्या, संकेत, कपिलवस्तु और श्रावस्ती पर शासन किया था। अयोध्या, संकेत और श्रावस्ती महत्वपूर्ण कोसल साम्राज्य के नगर थे। उत्खनन से संकेत मिलता है कि छठी सदी ई. पू. से पहले ये नगर बड़े पैमाने पर नहीं बसे थे। संभवतः इस समय में कोसल छोटे राज्यों के अधिकारियों से शासित था। परंतु प्रसेनजीत और विदुदबा जैसे शक्तिशाली राजाओं ने सुदृढ़ रूप से अपना प्रशासन फैलाया। कोसल के राजा ब्राह्मणवाद और बौद्ध धर्म दोनों में आस्था रखते थे। राजा प्रसेनजीत तो महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। यह राज्य मगध साम्राज्य को कड़ी टक्कर देने में समर्थ रहा।

अंग

अंग पूर्व में चंपा नदी से मगध साम्राज्य से अलग था और वर्तमान मुंगेर और भागलपुर जो बिहार में स्थित हैं इसमें सम्मिलित थे। उत्तर में यह कोसी नदी तक फैला हुआ था और पूर्णिया के कई भाग इसके अंतर्गत आते थे जो राजमहल

पहाड़ी के पश्चिम की ओर स्थिति था। चंपा इसकी राजधानी थी जो गंगा और चंपा नदियों के मेल पर स्थिति थी। छठी सदी ई. पू. की चंपा 6 बड़े नगरों में से एक मानी जाती है। यहाँ से पूर्व की ओर गंगा नदी से नाविक व्यापार होता था। छठी सदी ई. पू. के मध्य तक मगध साम्राज्य ने अंग को अपने अधीन कर लिया था। भागलपुर के समीप चंपा से अधिक मात्रा मृदभांड में पाए गए हैं।

मगध

वर्तमान पटना और गया जिलों को मगध साम्राज्य कहा जाता था जो अंग और वत्स के मध्य में स्थिति था। उत्तर और पश्चिम में सोन और गंगा नदी से यह ढका हुआ था। दक्षिण में यह विंध्य पर्वत श्रृंखला से घिरा हुआ था जो छोटा नागपुर तक फैली हुई थी। पूर्व में चंपा नदी से अंग से विभाजित करती थी। राजगृह या गिरिव्रज इसकी राजधानी थी। राजगृह 5 पर्वतों से घिरा हुआ था। पाँचवीं सदी ई. पू. में इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। ब्राह्मण साहित्य में मगध के लोगों को मिश्रित जाति का माना जाता था। इसका कारण यह था कि यहाँ के लोग वर्ण-व्यवस्था और वैदिक रूढ़ियों को मान्यता नहीं देते थे। दूसरी ओर बौद्ध धर्म इस स्थान को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है क्योंकि इस जगह पर गौतम बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुआ था। मगध राजा बिंबिसार और अजातशत्रु गौतम बुद्ध के मित्र और अनुयायी थे।

मगध उपजाऊ होने के कारण चावल उपज के लिए श्रेष्ठ माना जाता था। दक्षिण बिहार के लौह संपदा पर भी मगध का अधिकार था। यहाँ का सामाजिक जन-जीवन भी मगध साम्राज्य की खुशहाली का कारण बना। गंगा, गंडक और सोन नदियों पर व्यापार के कारण मगध समृद्ध होता जा रहा था। मगध सम्राट बिंबिसार ने 80,000 ग्रामों का सम्मिलन किया। मगध साम्राज्य अपनी छत्रछाया में वैशाली के वज्जि को लाकर चौथी सदी ई. पू. में मौर्य शासन के रूप में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण साम्राज्य बना।

वज्जि

मगध के उत्तर की ओर वज्जि संघ था। यह संघ आठ कुलों के संयोग से बना और इनमें तीन कुल प्रमुख थे - विदेह, वज्जि तथा लिच्छवि। विदेह कुल की राजधानी वैशाली थी। इसमें तीन जिलों का उल्लेख है जो कदाचित तीन कुलों के प्रमुख क्षेत्र थे। इस कुल में लिच्छवी कुल का विशेष उल्लेख है। महावस्तु से पता चलता है कि लिच्छवियों के निमंत्रण से गौतम बुद्ध वैशाली गए थे। बौद्ध साहित्य लिच्छवियों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन का वर्णन करता है। गौतम बुद्ध के अनुसार लिच्छवियों का आंतरिक संगठन अच्छा था इसलिए यह गणसंघ अजेय था। बिहार के वैशाली जिले के पास, वज्जि गंगा के उत्तर में बसा हुआ था। यह महाजनपद नेपाल की पहाड़ियों तक फैला हुआ था। पश्चिम की ओर यह गंडक तक फैला हुआ था जो इसे मल्ल और कोसल से अलग करता था। पूर्व में यह महानदी और कोसी के तट तक सीमित था। समकालीन साहित्य इस महाजनपद की राजनीतिक व्यवस्था को भिन्न बताते हुए जनसंघ का वर्णन करता है जो संभवतः क्षत्रिय अधिकारी के समूह को संबोधित करता था। यह एक शक्तिशाली राजा के द्वारा प्रशासित नहीं था। अठकुल या आठ कुलों के समूह से वज्जि संघ बना हुआ था। विदेह की राजधानी मिथिला थी। रामायण इसे राजा जनक से संबंधित बताता है। जातक कथाओं के अनुसार वज्जि संघ पर अनेक सामुदायिक प्रमुखों ने शासन किया था। संभवतः यह संघ विदेह के राजतंत्र के पतन के पश्चात उभर कर आया। परंतु महावीर और गौतम बुद्ध के समय में यह एक समृद्ध गणतंत्र था। मगध के राजा अजातशत्रु ने इस संघ को नष्ट कर दिया था।

मल्ल

मल्ल जनपद 500 प्रमुखों के द्वारा शासित था जो दो भागों में अपनी-अपनी राजधानी बसाए हुए थे। पौराणिक साहित्य में इसे जनसंघ के रूप में बताया गया है। पावा जो पटना और कुशिनारा जो उत्तर प्रदेश के गोरखपुर को कहते हैं, ये दो

मल्ल के मुख्य केंद्र थे। आरंभ में यह विदेह के समान राजतंत्र था परंतु बाद में गणतंत्र ही यहाँ पर स्थापित हो गया। साहित्यिक स्रोतों से ज्ञान होता है कि मल्ल, लिच्छवी और काशी-कोसल के बीच आपसी संबंध थे। मगध साम्राज्य की बढ़ती ताकत को देखते हुए यह संबंध सुगठित हो गया।

चेदि

चेदि महाजनपद की सीमा आधुनिक बुंदेलखंड और उसके निकटवर्ती इलाकों तक फैली हुई थी। मालवा तक भी इसके फैले होने का अनुमान है। शिशुपाल जो कृष्ण का शत्रु था वह यहाँ का राजा था। महाभारत के अनुसार, चेदि मत्स्य प्रमुखों के साथ अच्छे संबंध रखते थे। सूक्तत्रिमती इसकी राजधानी थी जो मध्य प्रदेश के बाँदा जिले में स्थिति थी। सहजाती और त्रिपुरा यहाँ के अन्य महत्त्वपूर्ण नगर थे।

वत्स

वत्स छठी सदी ई. पू. के सबसे शक्तिशाली जनपदों में एक था। इसकी राजधानी कोशाम्बी थी। यह इलाहाबाद से कुछ दूरी पर यमुना के तट पर स्थिति थी। पुराण के अनुसार बाढ़ से बह जाने के बाद हस्तिनापुर से कोशाम्बी राजधानी बन गई थी। नाटककार भास ने अपनी रचना में उदयन नामक वत्स राजा का उल्लेख कर उसे अमर बना दिया। उन्होंने उदयन को अपनी साहित्यिक भाषा में सैदवी बतलाया है। भास द्वारा लिखित नाटकों में उदयन और वासवदत्ता के प्रेम संपर्क का विवरण मिलता है और साथ ही मगध, वत्स और अवंति के पारस्परिक टकराव का भी वर्णन है।

कुरू

कुरू राज्य दिल्ली - मेरठ के पास स्थिति था। कुरू राजा युधिष्ठिर के परिवार के माने जाते हैं। अर्थशास्त्र कुरू राजाओं को किसी प्रकार की राजा की उपाधि से संबोधित करता था। संभवतः यहाँ पर पूर्ण राजतंत्र नहीं था बल्कि किसी प्रकार की राजकीय प्रमुखता प्रचलित थी। हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ कुरू नरेशों की राजधानी बतायी जाती हैं। महाभारत में कौरवों और पाण्डवों के बीच राजगद्दी के लिए आपसी संघर्ष का विस्तार से वर्णन हुआ है। महाजनपदों के अभ्युदय से राज्यों के लिए बड़े पैमाने में आपस में युद्ध का रूप धारण करने लगी थीं।

पांचाल

आधुनिक बुलंदनगर, बरेली, पिलीभीत, अलीगढ़, बदायूँ आदि मध्य दोआब को पांचाल महाजनपद बतलाया जाता था। पौराणिक साहित्य में उत्तरी पांचाल और दक्षिणी पांचाल का विवरण है जो भगीरथी नदी से विभाजित होते हैं। उत्तरी पांचाल की राजधानी अहीछत्र और दक्षिण की कमिपत्य थी। कुरू और पांचाल में घनिष्ठ संबंध थे और उनकी व्यावसायिक केंद्र में गौतम बुद्ध गए थे।

मत्स्य

आधुनिक जयपुर, भरतपुर और राजस्थान के अलवर इलाके को मत्स्य भूमि मानते हैं। इसकी राजधानी विराटनगर थी। महाभारत पशुपालन के लिए इस भूमि को महत्त्वपूर्ण मानते थे इसलिए कौरवों ने विराट पर विजय स्थापित कर पशुओं के रूप में युद्ध अवशेष या बूटि ली थी। मगध राज्य की बढ़ती शक्ति के कारण यह राज्य समाप्त हो गया।

सूरसेन

यह राज्य मथुरा में केंद्रित था पर इस पर आक्रमण करना कठिन था क्योंकि यहाँ यातायात के साधन उपलब्ध नहीं थे। महाभारत और पुराण मथुरा के राजघराने को यादव वंश का बतलाते हैं। यह यादव वंश वृष्णी, महाभोग, अन्धक आदि

में विभाजित था। यहाँ पर भी संघ का प्रशासन था। उत्तरापथ और दक्षिणापथ दोनों मथुरा से ही होकर गुजरते थे। भौगोलिक परिस्थितियाँ मथुरा के अनुकूल थीं और इसे एक शक्तिशाली राज्य के रूप में सहायता प्रदान करती थीं पर यहाँ पर संगठित प्रशासन का अभाव था।

अश्मक

अंगुत्तर निकाय में अश्मक का वर्णन है। इसकी राजधानी पोतना थी। यह गोदावरी नदी के किनारे स्थिति थी। अश्मक और मूलक प्रदेश एक दूसरे के पड़ोसी थे और दोनों ही इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रिय थे।

अवंति

पश्चिमी भारत में अवंति जनपद प्रमुख था। आधुनिक मालवा व मध्य प्रदेश के कुछ भागों से मिलकर अवंति जनपद बना था। प्राचीन समय में अवंति के दो भाग थे: उत्तरी अवंति जिसकी राजधानी उज्जैन थी और दक्षिणी अवंति जिसका प्रमुख नगर महिष्मति था। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के समय में महाराज चंड प्रद्योत अवंति के राजा थे। अवंति बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केंद्र था। पुराणों के अनुसार चंड प्रद्योत शक्तिशाली राजा था जिसके समय में अवंति का वत्स, मगध और कोसल के साथ युद्ध हुआ था। मगध सम्राट शिशुनाग ने अवंति को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। अवंति राज्य का आर्थिक महत्व अधिक रहा है क्योंकि अनेक व्यापार मार्ग इस प्रदेश से होकर गुजरते थे।

गांधार

प्राचीन भारत के उत्तरी भाग में जिसे उत्तरापथ कहते हैं दो जनपद थे। गांधार महाजनपद आधुनिक पेशावर और रावलपिंडी के इलाके में स्थिति था। इसकी राजधानी तक्षशिला प्राचीन काल में विद्या एवं व्यापार का प्रसिद्ध केंद्र थी। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में गांधार में पुष्कर सारिन राज्य करता था। उसने अवंति के साथ युद्ध करके चंड प्रद्योत को पराजित किया। मगध के साथ उसके संबंध अच्छे थे। वहाँ उसने अपना राजदूत भी भेजा था।

कांबोज

कांबोज प्रदेश उत्तरापथ में ही स्थिति था। आधुनिक काल के राजोरी और हजारा के जिलों में प्राचीन कांबोज सीमित था। इस क्षेत्र में पहले तो शासन की बागडोर राजा के हाथ में होती थी पर कौटिल्य के समय यह एक संघराज्य बन गया था।

10.6 उपसंहार

हमने राजनीतिक परिस्थितियों का पूर्ण रूप से विश्लेषण कर लिया है। छठी शताब्दी ई. पू. में महाजनपद अलग भौगोलिक इकाइयों के रूप में उभरे और उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में परिवर्तन ही नहीं बल्कि विकास भी अनुभव किया। मध्य गंगा घाटी में अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, काशी, कोसल और वत्स स्थिति थे। यह घाटी चावल की उपज के लिए बेहतर थी इसलिए यहाँ पर जनता भी भारी तादाद में आकर बसी। मगध जैसे शक्तिशाली महाजनपद भी यहाँ राजनीतिक मंच पर उभर कर आए। फलस्वरूप यह क्षेत्र न केवल राजनीति के दृष्टिकोण से बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी समृद्धि की ओर अग्रसर हुआ।

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. जोड़ा मिलाएँ:-

- | | |
|-----------------|-----------|
| (i) बिंबिसार | (a) अवंति |
| (i) उदयन | (b) कोसल |
| (ii) प्रद्योत | (c) मगध |
| (iii) प्रसेनजित | (d) वत्स |

ख. रिक्त स्थान भरें:

- मगध सम्राट ने 80,000 गाँवों के गामिनियों (ग्राम-प्रमुखों) को अपने राज्य में मिला लिया।
- महाजनपद की सीमा आधुनिक बुंदेलखंड और उसके निकटवर्ती इलाकों तक फैली हुई थी।
- प्रारम्भ में सभी सोलह महाजनपदों में सर्वाधिक शक्तिशाली महाजनपद था।
- में कौरवों और पाण्डवों के बीच राजगद्दी के लिए आपसी संघर्ष की कथाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है।
- नाटककार भास ने अपनी रचना में नामक वत्स राजा का उल्लेख कर उसे अमर बना दिया।

ग. संक्षिप्त टिप्पणी:

- प्राचीन भारतीय गणसंघ
- मगध

घ. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न:

- भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक घटनाक्रमों के सन्दर्भ में ईसा पूर्व छठी शताब्दी के महत्त्व पर एक निबंध लिखें।

10.7 सारांश

- उत्तर-वैदिक काल में नए कृषि अधिवास अस्तित्व में आए जिनका नामकरण क्षेत्र विशेष में बसे प्रभुत्वशाली क्षत्रिय कबीलों के नाम पर हुआ था। इन्हें जनपद कहा गया।
- लोगों के स्थानीयकरण के साथ शिल्प की विशेषज्ञता ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण बदलावों की पृष्ठभूमि तैयार की।
- महाजनपद भौगोलिक प्रदेश विशेष में स्थित थे और ऐसे क्षेत्रों के रूप उभर रहे थे जहाँ नए प्रकार के सामाजिक-राजनीतिक बदलाव आकार ग्रहण कर रहे थे।
- लोहे का उपयोग, धान की खेती और पशुओं के संरक्षण के लिए धार्मिक मंजूरी छठी से चौथी सदी ईसा पूर्व के बीच की अवधि में शहरी केंद्रों के विकास में मददगार सिद्ध हुई।
- शहरी अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करने में व्यापार और मुद्रा प्रणाली के विकास का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा।

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. (i) सही (ii) सही (iii) गलत (iv) गलत (v) सही

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. देखें खंड 10.3.1

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. (i)-(c), (ii)-(d), (iii)-(a), (iv)-(b)

ख. (i) बिंबिसार (ii) चेदि (iii) काशी (iv) महाभारत (v) उदयन

ग. संक्षिप्त टिप्पणी:

(i) देखें खंड 10.4

(ii) देखें खंड 10.5

घ. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न:

(i) देखें खंड 10.2 & 10.3

पाठ 11

आरंभिक राज्यों का गठन

पाठ्य-रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 छठी शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्द्ध के चार प्रमुख राज्य

11.3 मगध का अभ्युदय और विकास

11.3.1 मगध की सफलता के कारण

11.4 फ़ारसी और यूनानी आक्रमण

11.4.1 फ़ारस का आक्रमण

11.4.2 फ़ारसी अधिकार के प्रभाव

11.4.3 सिकंदर का आक्रमण

11.4.4 यूनानी अधिकार के प्रभाव

11.5 उपसंहार

11.6 सारांश

11.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन आपको निम्नलिखित विषयों में सक्षम बनाता है:

- उत्तर भारत में मगध साम्राज्य के राजनीतिक केंद्र के रूप में अभ्युदय के कारणों की समीक्षा
- फ़ारसी और यूनानी आक्रमण के प्रभावों की व्याख्या
- सिकंदर के आक्रमण के प्रभाव का विश्लेषण

11.1 प्रस्तावना

पिछले पाठों में हमने देखा कि भारत में ईसा पूर्व छठी सदी से ईसा पूर्व चौथी सदी के दौरान जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में दूरगामी परिवर्तन हुए। यह अवधि देश में बड़े पैमाने पर कृषि-विस्तार, नगरों के उदय और राज्यों के निर्माण की अवधि थी। केवल राजनीतिक एकता के लिए ही नहीं अपितु सांस्कृतिक एकता के लिए भी यह काल महत्वपूर्ण है। ईसा पूर्व छठी सदी में ही दो प्रमुख धर्म जैन और बौद्ध का उदय हुआ जिन्होंने धार्मिक विश्वासों और कृत्यों पर गहरी छाप छोड़ी। वैदिक काल में विकसित हुई वर्ण-व्यवस्था जो कि आमतौर पर जाति-व्यवस्था के नाम से विख्यात थी,

सामाजिक संगठन का आधार बन चुकी थी। इस अवधि में इस व्यवस्था की जड़ें और अधिक मजबूत हुईं नगरों, शिल्पों और व्यापार के विकास से सांस्कृतिक एकता की प्रक्रिया और भी तेज हुई।

11.2 छठी शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्द्ध के चार प्रमुख राज्य

इस अवधि में आर्य-सभ्यता का प्रसार पूर्व दिशा में हुआ और आर्यों की गतिविधि का केंद्र अब मगध, वत्स, कोसल और अवन्ति बन गए। उस समय के सोलह प्रधान राज्यों (जो महाजनपद कहलाते थे) में उपरोक्त चार राज्य तथा लिच्छवियों का वज्जि गणतंत्र राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली थे।

प्रद्योत अवन्ति राज्य का प्रसिद्ध और बेहद शक्तिशाली शासक था। कहा जाता है कि मगध शासक अजातशत्रु भी उससे भय खाता था। प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता का विवाह वत्स के शासक उदयन के साथ हुआ था। ईसा पूर्व चौथी सदी के आरंभ में शिशुनाग नामक मगध के शासक ने अवन्ति के शासकों की सत्ता को छिन्न-भिन्न कर दिया।

वत्स का सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक उदयन था। उसने मगध, अवन्ति और अंग के शासकों की पुत्रियों से विवाह किया और इस प्रकार अपनी शक्ति को बढ़ाया। किन्तु वह अपने शासन को स्थायित्व नहीं प्रदान कर सका। वह अपना कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी नहीं छोड़ पाया और अंततः अवन्ति के शासक ने उसके क्षेत्र को अपने राज्य में मिला लिया।

भगवान बुद्ध के समय में कोसल का शासक प्रसेनजित था। भरहुत की मूर्तियों से स्पष्ट है कि वह बुद्ध का शिष्य था। प्रसेनजित की बहन कोसलादेवी का ब्याह मगध देश के नरेश बिंबिसार से हुआ था। इस वैवाहिक संबंध के तहत बिंबिसार को काशी का एक हिस्सा कोसलादेवी के भरण-पोषण के लिए प्राप्त हुआ। बाद में प्रसेनजित ने काशी को हड़प लिया जो उसने अपने बहन को दिया था। परिणामस्वरूप कोसल और मगध के बीच युद्ध छिड़ गया जो लंबे समय तक चलता रहा। अंततः प्रसेनजित को अजातशत्रु के साथ अपनी पुत्री वजिरा का विवाह करना पड़ा और अजातशत्रु को काशी का राजस्व सौंपना पड़ा। इस प्रकार दो शाही परिवारों के बीच संघर्ष का अंत हुआ। वह अपने राज्य के प्रशासन को जनजातीय सरदारों और अपने अधीनस्थ राजाओं के द्वारा नियंत्रित करता था। जब उसका पुत्र राजा बना तो उसने अपने सरदारों के साथ कठोर व्यवहार किया जिसके फलस्वरूप साम्राज्य का पतन हो गया।

11.3 मगध का अभ्युदय और विकास

छठी सदी ईसा पूर्व तक सिर्फ चार राज्य काशी, कोसल, मगध और वज्जि संघ ही महत्वपूर्ण रह गए थे और इन राज्यों के बीच प्रभुत्व के लिए निरंतर संघर्ष चलता रहा। अंततः मगध राज्य सबसे शक्तिशाली हो कर उत्तर भारत की राजनीतिक गतिविधियों का केंद्र बन गया। छठी शताब्दी (ई.पू. 543-ई.पू. 491) में मगध का राजा बिंबिसार था। वह हर्यक कुल का था और क्षेणिक के नाम से भी जाना जाता था। आरंभ में उसकी राजधानी गिरिव्रज में थी जिसे बाद में उसने पटना से दक्षिण-पूर्व में लगभग 60 मील दूर राजगृह (राजगीर) स्थानांतरित कर दिया। राजगीर एक अभेद्य दुर्ग के समान था जो पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ था।

बिंबिसार के बाद उसका पुत्र अजातशत्रु (ई. पू. 491 से 459) राजगद्दी पर बैठा। राज्याभिषेक के पूर्व उसने चंपा में राजा के प्रतिनिधि के रूप में अपने पिता की सेवा की थी। कहा जाता है कि अजातशत्रु ने अपने पिता को कारागार में डालकर उसे भूखों मार डाला। बाद में उसने अपने इस जघन्य अपराध के लिए भगवान बुद्ध के समक्ष पश्चाताप प्रकट किया।

अजातशत्रु के शासनकाल की एक महत्वपूर्ण घटना थी उसका लिच्छवियों के साथ युद्ध। इस युद्ध के अनेक कारण बताए जाते हैं। एक प्रमुख कारण था- मगध की पड़ोस के उस अल्पतंत्रीय सत्ता को नष्ट कर देने की मंशा जो निश्चय ही

उसकी महत्वाकांक्षा के मार्ग में बाधा था। उसने लिच्छवि सरदारों के बीच फूट डालने के लिए अपने दो भरोसेमंद वजीरों, सुनिध और वस्सकर को भेजा। उसने पूरी सतर्कता के साथ अपनी सेना को संगठित किया और हरसंभव अनेक विनाशक हथियारों से लैस किया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप (जिसकी तैयारी सोलह वर्षों तक चलती रही थी) लिच्छवियों के क्षेत्रों के कुछ भागों को मगध साम्राज्य में मिला लिया गया। बौद्ध और जैन दोनों अजातशत्रु को अपने-अपने अनुयायी होने का दावा करते हैं। बौद्ध रचनाओं के अनुसार जब भगवान बुद्ध का ईसा पूर्व लगभग 483 के वर्ष में देहांत हुआ तो अजातशत्रु ने उनके अवशेषों में हिस्सेदारी का दावा किया और उन्हें एक स्तूप में प्रतिष्ठापित कर दिया।

बिंबिसार और अजातशत्रु के राज्य-विवरणों से पता चलता है कि वे इतिहास में पहले भारतीय राजा थे जिन्होंने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्न किए।

पालि स्रोतों के अनुसार 459 ईसा पूर्व में अजातशत्रु के बाद उसका बेटा उदयभद्र राजा बना। उसने सोन और गंगा के संगम पर पाटलिपुत्र नगर की स्थापना की। उदयभद्र के उत्तराधिकारी अनुरुद्ध, मुंड और नगदसक हुए। वे दुर्बल और अलोकप्रिय शासक थे। इस प्रकार शिशुनाग जो अंतिम राजा का मंत्री था ने सत्ता हथिया ली और राजा बनाया गया। उसने अवंति के शासक की सत्ता को नष्ट कर दिया और इस प्रकार लगभग संपूर्ण मध्य प्रदेश, मालवा और उत्तर के अन्य क्षेत्रों का एकछत्र शासक बन गया।

ईसा पूर्व चौथी सदी के लगभग मध्य में नंद राजवंश के संस्थापक महापद्मनंद ने शिशुनाग राजवंश (जो आधी सदी तक ही सत्ता में रहा) का तख्ता पलट दिया। उसके जन्म की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। विभिन्न स्रोतों से पता चलता है कि महापद्मनंद शुद्र कन्या पुत्र था। जैन विवरणों में उसका उल्लेख एक नाई द्वारा वेश्या-पुत्र के रूप किया गया है और एक ग्रीक लेखक कर्टीअस (Cartius) के अनुसार महापद्मनंद एक नाई का बेटा था जिसने अपनी सुंदर छवि से रानी का दिल जीत लिया और फिर शिशुनाग वंश के अंतिम शासक की हत्या कर दी। ये सभी विवरण दर्शाते हैं कि वह निम्न कुल में पैदा हुआ था और पुरानी शक्तियों को हरा कर मगध की सत्ता हथियाने में सक्षम रहा। महापद्मनंद के लिए कहा जाता है कि उसने इक्ष्वाकु, कुरु, पांचाल, सूरसेन, कलिंग, अश्मक इत्यादि शासकों को हराकर क्षत्रियों को सत्ता से उखाड़ फेंका। हो सकता है यह काफी बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया हो लेकिन यह तो तय है कि लगभग संपूर्ण मध्यदेश और मालवा क्षेत्र शिशुनाग साम्राज्य का हिस्सा थे।

कथा-सरित-सागर से पता चलता है कि कोसल मगध साम्राज्य का हिस्सा था जबकि हाथीगुंफा शिलालेख नंद राजा द्वारा एक नहर के उत्खनन का उल्लेख करता है। राजा की पहचान महापद्मनंद के रूप में की गयी है। इस तरह कलिंग का कुछ क्षेत्र भी मगध का हिस्सा था। गोदावरी तट पर नव नंद देहरा नामक एक शहर है। यह भी नंद साम्राज्य में दक्कन के कुछ हिस्से होने का द्योतक है। प्लिनी के अनुसार प्राच्यों (पूरब वालों) ने संपूर्ण भारतीयों को शक्ति और समृद्धि के मामले में पछाड़ दिया। यह नंदों की ख्याति को दर्शाते हैं जिसका उन्होंने आनंद लिया।

कहा जाता है कि महापद्मनंद के आठ पुत्रों ने एक-एक कर बारह वर्षों तक शासन किया। संभवतः अंतिम नंद शासक धनानंद था। ग्रीक लेखक कर्टीअस (Cartius) के मुताबिक वह एक धनवान शासक था जिसके पास 2 लाख पदाति, 2000 घोड़े, 20,000 रथ और 4,000 हाथियों से सुसज्जित विशाल सेना थी। लेकिन वह अधार्मिक प्रवृत्ति का था अतः काफी अलोकप्रिय था वह। सिकंदर की वापसी के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने मौके का फायदा उठाते हुए नंदों को सत्ता से उखाड़ फेंका (ई. पू. 320-21)।

11.3.1 मगध की सफलता के कारण

मगध के सर्वाधिक शक्तिशाली राजतंत्र के रूप में विकसित होने के पीछे अनेक कारण थे जिनमें प्रमुख बिंबिसार, अजातशत्रु और महापद्मनंद जैसे शासकों की महत्वाकांक्षा और योग्यता थी। मगध की लाभदायक भौगोलिक स्थिति ने भी उसके उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मगध साम्राज्य गंगा के मैदानों के ऊपरी और निचले भागों के बीच सामरिक महत्त्व का था और व्यापार और वाणिज्य का अति-महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यद्यपि आकार-क्षेत्र में यह कोसल का आधा था, लेकिन वन संसाधनों, धातुओं और समृद्ध कृषि से भरा-पूरा था। साथ ही नियमित पदाधिकारियों और स्थायी सेना के बल पर कुशल और सक्षम प्रशासन देने में भी वे समर्थ थे। मगध के चारणों ने आम जनता को उत्प्रेरणा दी और उनके समर्थन से शासकों ने एक चक्रवर्ती शासक के अधीन एक ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना को साकार कर दिया जो ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों के रचनाकारों ने शासकों के समक्ष प्रस्तुत किया था।

इस प्रकार मगध धीरे-धीरे उत्तरी भारत के प्रमुख राज्य के रूप में उभरा और इसका इतिहास स्वयं भारत का इतिहास बन गया। नंद की ख्याति को मौर्यों की भव्यता ने दबा दिया किंतु स्मरण रहे कि वे नंद ही थे जिन्होंने पहली बार उत्तर भारत के सभी राज्यों को संगठित किया जो हर हमेशा एक दूसरे से युद्ध में उलझे रहते थे। दूसरे शब्दों में नंदों ने ही उत्तर भारत (बंगाल को छोड़कर) में एक मजबूत और सुसंगठित राजनीतिक सत्ता की स्थापना की।

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. सही-गलत बताएँ:

- (i) वैदिक काल में विकसित हुई वर्ण-व्यवस्था जो कि आमतौर पर जाति-व्यवस्था के नाम से विख्यात थी, सामाजिक संगठन का आधार बन चुकी थी। ई. पू. 600 से ई.पू. 400 के दौरान इस व्यवस्था की जड़ें और अधिक मजबूत हुईं।
- (ii) ईसा पूर्व छठी सदी में आर्य-सभ्यता के केंद्र का प्रसार पूर्व दिशा में मगध, वत्स, कोसल और अवंति तक हुआ।
- (iii) भगवान बुद्ध के समय में मगध का शासक प्रसेनजित था।
- (iv) ईसा पूर्व की चौथी सदी के मध्य में प्रथम नंद शासक महापद्मनंद ने शिशुनाग वंश को उखाड़ फेंका।
- (v) सिकंदर के बाद (ई. पू. 320-21 ई. पू.), अशोक ने मगध में नंद की सत्ता को छिन्न-भिन्न कर दिया।

ख. कम से कम तीन ऐसे महत्त्वपूर्ण कारकों का नाम बताएँ जिसने मगध साम्राज्य के विकास में योगदान दिया।

11.4 फ़ारसी और ग्रीक आक्रमण

ईसा पूर्व छठी सदी के मध्य में उत्तर-पश्चिम भारत में एकता का अभाव था। कंबोज, गंधार और मद्र आदि के राजा आपस में ही लड़ते रहते थे। पश्चिमोत्तर सीमा पर व्याप्त राजनीतिक फूट और इस क्षेत्र की समृद्धि ने फ़ारसी बादशाहों को भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में क्षेत्रीय विस्तार के लिए प्रेरित किया।

11.4.1 फ़ारस का आक्रमण

516 ईसा पूर्व में हिंदूकुश के दर्रे से ईरानी शासक दारयवहु (डेरियस) भारत आया और उसने पंजाब, सिंधु नदी के पश्चिम के इलाके और सिंध को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। डेरियस प्रथम के बाद क्षयार्थि (ज़रसिस 486-465 ई. पू.) फ़ारस का शासक बना जिसने यूनानियों के खिलाफ लंबी लड़ाई में भारतीयों को अपनी फ़ौज में सम्मिलित किया। ज़रसिस के उत्तराधिकारी दुर्बल और अयोग्य थे। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि फ़ारसी बादशाहों ने

भारतीय सीमा प्रदेश की जनजातियों पर 330 ईसा पूर्व तक किसी-न-किसी रूप में अपना नियंत्रण बनाए रखा जबतक कि सिकंदर ने डेरियस III को हराकर उनके इस क्षेत्र के शासन को पूरी तरह से खत्म नहीं कर दिया।

11.4.2 फ़ारसी अधिकार के प्रभाव

भारत और ईरान के बीच लगभग दो सौ सालों तक संघर्ष चला। ईरानियों ने भारत को पश्चिम के संपर्क में लाया जिससे भारत का अन्य पश्चिमी देशों के साथ व्यापार का मार्ग खुल गया। भारत और ईरान के बीच संपर्क के राजनीतिक परिणाम जो भी रहे हों, इस संपर्क के सांस्कृतिक परिणाम और भी महत्वपूर्ण हुए।

इतिहासकार डी.बी. स्पूनर ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि पाटलिपुत्र स्थित मौर्य राजभवन की वास्तुकला ईरानी राजा डेरियस के राजमहल से प्रभावित है। लेकिन इन इतिहासकारों द्वारा दिए गए प्रमाण अपर्याप्त और अमान्य हैं। उदाहरणार्थ, एच.जी. रालिंसन का मत कि अशोक-स्तंभों का घटा-शीर्ष फ़ारसी प्रभावों के अनेक चिन्ह दर्शाता है, तर्क संगत नहीं है। ई.बी. हैवेल के अनुसार शीर्ष उलटे कमल को चित्रित करता है जो भारतीय कला का विशिष्ट लक्षण है। फिर भी, यह संभव है कि स्तंभ-निर्माण की प्रेरणा फ़ारसियों से मिली होगी लेकिन अशोक-स्तंभ किसी भी रूप में फ़ारसी आदि प्रारूप की नकल नहीं हैं। फ़ारसी स्तंभ अर्द्ध-बेलनाकार उदग्र नाली के आकार के हैं, जबकि अशोक-स्तंभ सपाट और वृत्ताकार हैं। फ़ारसी स्तंभ पत्थर के विभिन्न टुकड़ों से निर्मित हैं जबकि अशोक-स्तंभ एकात्मक (एक ही चट्टान से बना हुआ) है।

फ़ारसी लिपिकारों ने भारत में लेखन का एक नया रूप प्रवर्तित किया जिसे 'खरोष्ठी' कहते हैं। इस लिपि का उपयोग अशोक ने उत्तर-पश्चिम भारत तथा उससे बाहर अपने शिलालेखों में किया। यह लिपि अरामाइक वर्णमाला से व्युत्पन्न है जिसका अखमनी साम्राज्य (ई.पू. 558-338 ई.) में व्यापक प्रयोग होता था। यह लिपि अरबी लिपि की भांति दाएँ से बाएँ लिखी जाती है। खरोष्ठी की लोकप्रियता ईसा की तीसरी शताब्दी से आगे नहीं रह पाई। अशोक के शिलालेखों के कुछ शब्द और प्रस्तावना से भी फ़ारसी प्रभाव का पता चलता है। 'दिपि' के लिए 'लिपि' और 'निपिष्ट' के लिए 'लिखित' जैसे शब्दों का प्रयोग स्पष्ट रूप से फ़ारसी शब्दों का भारतीयकृत रूप है।

यद्यपि चक्रवर्ती राजा, जो एक साम्राज्य का अधिपति होता था, की अवधारणा आद्य-ऐतिहासिक काल में मौजूद थी जैसा कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट होता है। तथापि, यह संभव है, जैसा कि ए. एल. बाशम मानते हैं, कि मगध के शासक बिंबिसार और अजातशत्रु की विस्तारवादी नीति को फ़ारसियों के उदाहरण से प्रेरणा मिली। मेगास्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने फ़ारसी केश-विन्यास का श्रीगणेश किया। वह केश-प्रक्षालन का उत्सव मनाता था, महिला अंग-रक्षकों को नियोजित करता था और फ़ारसी बादशाहों की भांति राज्यादेशों को पत्थरों पर खुदवाता था। हम यह भी जानते हैं कि विदेशी शासकों से प्रेरित होकर ही सम्भवतः फ़ारसी शासन-प्रणाली को उत्तर-पश्चिम भारत के कई प्रांतों में लागू किया गया और भारत के साथ फ़ारस के संपर्क के कारण ही भारत ग्रीक अर्थात् यूनानियों के संपर्क में आया और इस प्रकार फ़ारसी साम्राज्य के पतन के बाद सिकंदर के आक्रमण का मार्ग प्रशस्त हो गया।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. रिक्त स्थान भरें:

- (i) 516 ईसा पूर्व में हिंदूकूश के दरों से ईरानी शासक..... भारत आया और उसने पंजाब, सिंधु नदी के पश्चिम के इलाके और सिंधु को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया।

- (ii) भारत और ईरान के बीच लगभग सालों तक संघर्ष चला।
- (iii) इतिहासकार डी.बी. स्पूनर ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि स्थित मौर्य राजभवन की वास्तुकला ईरानी राजा डेरियस के राजमहल से प्रभावित है।
- (iv) फ़ारसी लिपिकारों ने भारत में लेखन का एक नया रूप प्रवर्तित किया जिसे कहते हैं। इस लिपि का उपयोग अशोक ने उत्तर-पश्चिम भारत तथा उससे बाहर अपने शिलालेखों में किया।
- (v) मेगास्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है कि ने फ़ारसी केश-विन्यास का श्रीगणेश किया।

14.4.3 सिकंदर का आक्रमण

330 ईसा पूर्व में मेसीडोनिया के सिकंदर (356-323 ई. पू.) ने अंतिम हरवामनी सम्राट, फ़ारस के दारियस (डेरियस) तृतीय को पराजित कर पुराने फ़ारस के संपूर्ण साम्राज्य पर अधिकार कर लिया और बैक्ट्रिया (पूर्व सोवियत संघ और अफगानिस्तान की सीमा पर ऑक्सस नदी का तटीय क्षेत्र) में एक लंबे अभियान के बाद हिंदूकुश की पहाड़ियों को पार कर उत्तर-पश्चिमी भारत में प्रवेश किया और काबुल पर आधिपत्य जमा लिया।

इस वक्त उत्तर-पश्चिमी भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था और ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जो उनके आपसी झगड़ों और ईर्ष्या पर अंकुश लगा सके।

पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के कारण इस क्षेत्र के राजा सिकंदर के खिलाफ संगठित न हो सके। तक्षशिला के राजा आम्भी (ओमफिस) का अभिसार और पुरू के साथ युद्ध चल रहा था। अभिसार और पुरू स्वायत्त जनजातियों जैसे शूद्रक और मालव आदि के भी दुश्मन थे। पोरस के अपने भतीजे से भी संबंध मधुर नहीं थे। इन आपसी झगड़ों के कारण सिकंदर को किसी प्रकार के एकजुट प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा। तक्षशिला नरेश आम्भी के समान कुछ शासकों ने अपने पड़ोसियों के प्रति द्वेष के कारण सिकंदर का खुले दिल से स्वागत किया। उसे पुष्कलवती के संराज्य, काबुल के कोफायस, अस्त्रवजित और सैसगुप्त का भी सहयोग मिला। इसी प्रकार मालवों और क्षुद्रकों के नेतृत्व में कबीलों के एक गठबंधन को सिकंदर ने पराजित तो कर दिया लेकिन उसे कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। मालव तकरीबन सिकंदर को मारने में सफल हो गए थे। किन्तु यूनानी वृत्तांतों से स्पष्ट है कि कई कबीलों (अश्वायन, अश्मक, कठ, मालव, क्षुद्रक, शिवि, अर्जुनायन आदि) ने सिकंदर का डटकर मुकाबला किया। झेलम और रावी नदियों के बीच शासन करने वाले राजा पोरस को सिकंदर ने पराजित कर गिरफ्तार तो कर लिया, परन्तु पोरस से प्रभावित होकर बाद में सिकंदर ने न केवल उसे उसका राज्य लौटा दिया, अपितु भारत से वापस लौटते समय उसे पंजाब का भार भी सौंप दिया। उत्तर-पश्चिम भारत में यूनानियों का अभियान करीब दो वर्षों तक चला। व्यास नदी के तट पर सिकंदर की सेना ने विद्रोह कर आगे बढ़ने से इंकार कर दिया क्योंकि यूनानी सैनिकों को सूचना थी कि मगध साम्राज्य के साथ गंगा-तट के अन्य शासक एक विशाल और सुसज्जित सेना, जिसमें 80,000 घुड़सवार, 2,00,000 पदाति 8,000 रथी और 6,000 हाथी सवार योद्धा शामिल थे, लेकर सिकंदर की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे जानते थे कि मगध पर नंद वंश का शासन था और उसकी सेना सिकंदर की सेना से कहीं बड़ी थी। अंततः सिकंदर वापस लौटने को विवश हो गया। अधिकांश जीते हुए राज्य सिकंदर ने उनके शासकों को लौटा दिए (जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी)। अपने भू-भाग को उसने तीन हिस्सों में बाँट दिया और तीन यूनानी गवर्नरों (स्थानीय शासकों) को नियुक्त किया। ईसा पूर्व 323 में सिकंदर का बेबिलोन में देहांत हो गया और विश्व साम्राज्य कायम करने का उसका सपना अधूरा ही रह गया।

11.4.3 यूनानी आक्रमण के प्रभाव

कुछ विदेशी लेखकों ने भारत पर सिकंदर के आक्रमण के परिणामों को काफी बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया है। रैपसन और सिमथ ने इस आक्रमण को भारत के इतिहास में युगांतरकारी घटना माना है जबकि राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार इसे सिकंदर की असाधारण जीत नहीं माना जा सकता। इसमें शक नहीं कि सिकंदर ने भारत में अपनी विजय को समुचित प्रशासकीय व्यवस्थाओं के जरिए सुदृढ़ करने का भरपूर प्रयास किया। सिकंदर ने सिंधु के पश्चिम में सिंध में पिथोन, निचली काबुल घाटी में फिलिप और हिंदूकुश की घाटियों में ओक्ज्यरेट्स आदि ग्रीक गवर्नरों को बहाल किया। हालांकि सिंधु के पूरब में उसने गवर्नर बहाली की हिमाकत नहीं की, बल्कि यहाँ उसने अपने विजित क्षेत्र भारतीयों जैसे- पोरस, तक्षशिला और अभिसार नरेशों को सौंप दिया।

इतना अवश्य है कि सिकंदर के प्रत्यागमन से उत्तर-पश्चिम में जो शून्यता (रिक्तता) की स्थिति उत्पन्न हुई उससे चन्द्रगुप्त मौर्य को अपना क्षेत्रीय विस्तार करने के अभियान में अतिरिक्त प्रेरणा मिली। दूसरे शब्दों में, पश्चिमोत्तर भारत के छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता को नष्ट कर सिकंदर के आक्रमण ने इस क्षेत्र में राजनीतिक एकीकरण (विशेष रूप से चंद्रगुप्त मौर्य के लिए साम्राज्य के विस्तार) का मार्ग प्रशस्त किया।

इसके अलावा व्यापार के लिए मौजूदा सुविधाओं को बढ़ाते हुए सिकंदर के अभियान ने यूनानी व्यापारियों और कारीगरों के लिए मार्ग प्रशस्त किए।

सिकंदर ने भारत में कई यूनानी बस्तियाँ बसाई थीं जिनमें से कुछ तो अशोक के समय तक या उसके बाद भी बची रहीं। सिकंदर के आक्रमण ने बैक्ट्रियन ग्रीक और प्राचीन भारत के मध्य विचारों के आदान-प्रदान का मौका दिया। बौद्ध धर्म और कला पर यूनानी प्रभाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं। समय के साथ वहाँ यूनानी प्रभाव से एक विश्ववादी नज़रिए का विकास हुआ। जैसा ए.वी. स्मिथ बताते हैं- भारतीय सभ्यता में जिस भी यूनानी तत्वों का पता लगाया जा सकता है सभी सिकंदर के आक्रमण का प्रभाव था।

11.5 उपसंहार

भारत पर सिकंदर के आक्रमण का एक तत्कालीन प्रभाव हुआ कि भारत की प्राचीनतम जनजातियों का या तो विनाश हो गया या वे पहले से अत्यंत कमजोर हो गए। फलस्वरूप चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए उन्हें अपने में मिलाना बेहद आसान हो गया। इस प्रकार एक सरकार के अधीन उत्तरी भारत के राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया तेज़ हो गयी। सिकंदर के इतिहासकारों ने बहुमूल्य भौगोलिक विवरणों के साथ-साथ उसके अभियान का स्पष्ट तिथिवार ब्यौरा भी छोड़ा है जो हमें भारतीय इतिहास के कालानुक्रम निर्धारण में मदद करते हैं।

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. सही-गलत बताएँ

- (i) 330 ईसा पूर्व में मेसीडोनिया के सिकंदर (356-323 ई. पू.) ने अंतिम हरवामनी सम्राट, फ़ारस के दारियस (डेरियस) तृतीय को पराजित कर पुराने फ़ारस के संपूर्ण साम्राज्य पर अधिकार कर लिया।
- (ii) सिकंदर के आक्रमण के समय उत्तर-पश्चिमी भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था।
- (iii) सिकंदर की सेना को तक्षशिला के राजा आम्भी से कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा।
- (iv) मगध की सेना ने भीषण युद्ध के बाद सिकंदर को परास्त कर वापस लौटने के लिए विवश कर दिया।

- (v) सिकंदर के इतिहासकारों ने बहुमूल्य भौगोलिक विवरणों के साथ-साथ उसके अभियान का स्पष्ट तिथिवार ब्यौरा भी छोड़ा है जो हमें भारतीय इतिहास के कालानुक्रम निर्धारण में मदद करते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- (i) छठी सदी ईसा पूर्व से चौथी सदी ईसा पूर्व के दौरान मगध के उदय के विशेष संदर्भ में क्षेत्रीय राज्यों के उद्भव का लिए विवरण दें।
- (ii) आप क्या सोचते हैं, क्या मगध साम्राज्य के उदय के लिए केवल लोहे की उपलब्धता ही उत्तरदायी थी?

11.6 सारांश

- छठी सदी ईसा पूर्व तक सिर्फ चार राज्य काशी, कोसल, मगध और वज्जि संघ ही महत्वपूर्ण रह गए थे और इन राज्यों के बीच प्रभुत्व के लिए निरंतर संघर्ष चलता रहा।
- अपनी बेहतरीन भौगोलिक स्थिति और बिंबिसार, अजातशत्रु और महापद्मनंद जैसे महत्वाकांक्षी राजाओं की बदौलत मगध राज्य सबसे शक्तिशाली हो कर उभरा।
- उत्तर-पूर्वी भारत में छोटे-छोटे राज्य और गणसंघ धीरे-धीरे मगध साम्राज्य में शामिल हो गए।
- हालांकि उत्तर-पश्चिमी भारत में नहीं के बराबर राजनीतिक एकता थी।
- सिकंदर के आक्रमण ने मौर्य साम्राज्य के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. (i) सही (ii) सही (iii) गलत (iv) सही (v) गलत

ख. देखें खंड 11.3.1

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क.(i) डेरियस (ii) 200 (iii) पाटलिपुत्र (iv) खरोष्ठी (v) चंद्रगुप्त मौर्य

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क.(i) सही (ii) सही (iii) गलत (iv) गलत (v) सही

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

(i) देखें खंड 11.2, 11.3 और 11.3.1

(ii) देखें खंड 11.4.3 और 11.4.4

पाठ 12

मौर्य साम्राज्य

पाठ्य-रूपरेखा

- 12.0 उद्देश्य
- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 जानकारी के स्रोत
 - 12.2.1 प्रमुख ग्रीक और रोमन लेखकों के वृत्तांत
 - 12.2.2 जैन और बौद्ध साहित्य
 - 12.2.3 कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस'
 - 12.2.4 अशोक के शिलालेख
- 12.3 चन्द्रगुप्त मौर्य
 - 12.3.1 चन्द्रगुप्त मौर्य की वंश परंपरा
 - 12.3.2 चन्द्रगुप्त मौर्य का आरंभिक जीवन
 - 12.3.3 चन्द्रगुप्त मौर्य का परवर्ती जीवन
- 12.4 अशोक
 - 12.4.1 सम्राट अशोक
 - 12.4.2 अशोक का धम्म
 - 12.4.3 बाह्य संबंधों में धर्म का प्रचार
 - 12.4.4 अशोक की शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की अवधारणा
- 12.5 मौर्य प्रशासन
 - 12.5.1 केंद्रीय प्रशासन
 - 12.5.2 प्रांतीय प्रशासन
 - 12.5.3 स्थानीय प्रशासन
- 12.6 मौर्यकालीन भारत का सामाजिक-आर्थिक ढांचा
 - 12.6.1 मौर्य अर्थव्यवस्था
 - 12.6.2 मौर्यकालीन सामाजिक संगठन
 - 12.6.3 मौर्य राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज के बीच संबंध
 - 12.6.4 मौर्यों की सामाजिक-कृषिक नीति
 - 12.6.5 व्यापार और उद्योग
 - 12.6.6 कर प्रणाली

12.7 मौर्य कला और स्थापत्य

12.7.1 स्थापत्य

12.7.2 मूर्तिकला

12.7.3 मौर्य कला पर बाह्य प्रभाव

12.8 मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

12.8.1 अशोक की नीतियाँ

12.8.2 विखंडन के राजनीतिक कारण

12.8.3 अशोक के उत्तराधिकारी

12.8.4 आर्थिक कारक

12.9 उपसंहार

12.10 सारांश

12.0 उद्देश्य:

इस पाठ का अध्ययन कर आप निम्नलिखित विषयों में सक्षम होंगे:

- मौर्य साम्राज्य के जानकारी के प्रमुख स्रोतों की पहचान
- मौर्य प्रशासनिक इकाइयों के कामकाज की समझ
- मौर्य भारत के सामाजिक-आर्थिक पद्धतियों की समीक्षा
- अशोक की धम्म-नीति के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण
- मौर्य कला और स्थापत्य की मुख्य विशेषताओं की पहचान
- मौर्यो के पतन के कारणों की विवेचना

12.1 प्रस्तावना

ईसा पूर्व चौथी सदी के उत्तर काल में मौर्यो के आगमन के साथ भारतीय इतिहास का विभिन्न स्रोतों से प्राप्त पर्याप्त विश्वसनीय साक्ष्यों के आधार पर वास्तविक अर्थ में पुनर्निर्माण किया गया है।

12.2 जानकारी के स्रोत

12.2.1 प्रमुख ग्रीक और रोमन लेखकों के वृत्तांत

सबसे महत्वपूर्ण विवरण चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में सेल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज का है। उसका मूल ग्रंथ 'इंडिका' दुर्भाग्यवश पूर्ण उपलब्ध नहीं है। लेकिन उसके कुछ उद्धरण अनेक परवर्ती ग्रीक और रोमन लेखकों की रचनाओं में व्यापक रूप से शामिल किए गए हैं। मेगास्थनीज के अतिरिक्त सिकंदर के महान नौ सेनापतियों में एक निर्याकस द्वारा फ़ारस की खाड़ी और सिन्धु नदी के बीच जलयात्रा का वर्णन उपलब्ध है। फिर डायमेकस का वृत्तांत है जो सीरियाई दरबार में अमित्रकेटे अर्थात् बिन्दुसार के पास भेजा गया था। इसी प्रकार, मिस्र के दरबार से डायोनिअस नामक दूत

पाटलिपुत्र भेजा गया था। कुछ आगे चलकर सेल्यूकस निकेटर और एंटीओकस I के राज्यपालों में एक पेट्रोक्लीज द्वारा सिन्धु और कैस्पियन सागर के बीच के क्षेत्र के सम्बन्ध में और अलेक्जेंड्रियाई पुस्तकालय के अध्यक्ष इरेस्टोस्थेनीज के दिए गए विवरण भी उपलब्ध हैं जो भौगोलिक और राजनीतिक वर्णन की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं।

स्मरणीय है कि चिर-प्रतिष्ठित लेखकों के वृत्तांत समान रूप से विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि मेगास्थनीज जैसे व्यक्ति ने भी अपने लेखन में बहुत कुछ ऐसी बातों का समावेश किया जो सुनी-सुनाई थी और जिसके सम्बन्ध में उसे प्रत्यक्ष रूप से जानकारी नहीं थी। फिर भी इन विदेशियों के कथनों और टिप्पणियों से पर्याप्त विश्वसनीय जानकारी मिलती है जो भारत के देशज स्रोतों से प्राप्त साक्ष्यों से संपुष्ट होती है। इन सभी वृत्तांतों के सावधानीपूर्वक अध्ययन से प्राप्त जानकारी का अनेक विद्वानों और इतिहासकारों ने उपयोग किया है।

12.2.2 जैन और बौद्ध साहित्य

परंपराओं से भी मौर्य काल की पर्याप्त जानकारी मिलती रही है। जैनों का दावा रहा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन के उत्तरकाल में जैन हो गया था। अशोक के बारे में हम जानते हैं कि वह एक बौद्ध था। ईसा की लगभग चौथी सदी पूर्व में भद्रबाहु नामक जैन लेखक की रचना 'जैन कल्पसूत्र' में मौर्यों के बारे में उपयोगी जानकारी मिलती है। संस्कृत बौद्ध ग्रंथ, जैसे 'दिव्यवदन', 'ललिताविस्तर' और 'महावस्तु' उस काल की महत्वपूर्ण जानकारी देते हैं। इसी प्रकार भगवान बुद्ध के पूर्व-जन्मों अथवा बोधिसत्व की जातक कहानियाँ-जो ईसा पूर्व दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में संकलित की गईं- भी उस काल की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थितियों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं। श्रीलंका के पालि इतिवृत्त 'दीपवंश' और 'महावंश' (पहला दूसरे से पुराना है), जो संभवतः ईसा की 5 वीं सदी में पूरा किए गए थे, मौर्यकालीन भारत पर प्रकाश डालते हैं।

12.2.3 कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस'

इस काल के संबंध में जानकारी का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत हैं शासन-कला पर लिखित पुस्तक 'अर्थशास्त्र' जो चंद्रगुप्त के एक सभासद कौटिल्य (विष्णु गुप्त अथवा चाणक्य के नाम से भी ज्ञात) के द्वारा लिखित बतलाई जाती है। यह कृति मौर्यों की राज्यव्यवस्था की सामान्य संदर्शिका के रूप में इस्तेमाल की जा सकती है। विशाखदत्त द्वारा लगभग 500 ई. में लिखित 'मुद्राराक्षस' नामक ऐतिहासिक नाटक भी नंदों और आरंभिक मौर्य वंश के शासन के बारे में उपयोगी जानकारी प्रदान करता है।

12.2.4 अशोक के शिलालेख

इनके अतिरिक्त अशोक के स्तंभ और शिलालेख क्षतिग्रस्त होने के बावजूद बहुमूल्य प्रामाणिक जानकारी देते हैं।

जानकारी के ये सारे स्रोत निश्चित रूप से मौर्य काल के दौरान हमारे देशवासियों के जीवन के प्रायः सारे पक्षों का ज्ञान वर्णन करते हैं। साथ ही, जैसा कि एक विद्वान ने बिलकुल सटीक कहा है, "मौर्य वंश का आगमन इतिहासकारों के लिए अंधकार से प्रकाश में जाने का मार्ग खोलता है" क्योंकि इससे पूर्व की अपेक्षा निश्चित काल-निर्धारण में भारी मदद मिलती है।

उत्तर वैदिक काल से सार्वभौम का चिर-प्रतिष्ठित आदर्श इतिहास में पहली बार मौर्यों के द्वारा ही राजनीतिक वास्तविकता में बदला जा सका। इस राजनीतिक यथार्थता के सूत्रधार चन्द्रगुप्त, उसका पुत्र बिंदुसार और पौत्र अशोक ने सही अर्थ में पहली बार भारतीय उपमहादेश में राजनीतिक और प्रशासनिक एकता कायम की।

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. मौर्य काल के अध्ययन के प्रमुख स्रोतों का वर्णन करें।

12.3 चन्द्रगुप्त मौर्य

12.3.1 चन्द्रगुप्त मौर्य की वंश परंपरा

चन्द्रगुप्त मौर्य की वंश परंपरा की निश्चित जानकारी नहीं है। कुछ हिन्दू साहित्यिक स्रोत उसे मगध के नंदों से जोड़ते हैं। चन्द्रगुप्त के पवित्र नाम से संबंध चन्द्रगुप्त कथा नामक पुस्तक में उसके सम्बन्ध में कई कहानियाँ मिलती हैं। संस्कृत, पालि और तमिल में कथा के अंश और उसके विभिन्न रूपांतरण विभिन्न प्रदेशों, वार्त्ताओं और यहाँ तक कि दार्शनिक शोध-प्रबंधों में भी उपलब्ध हैं। भारत के बाहर वे न सिर्फ ग्रीक और लैटिन लेखकों में बल्कि बर्मी (म्यांमार की) दंत कथाओं और श्रीलंका के इतिवृत्तों में भी सुरक्षित हैं। शिलालेखों और ग्रीक एवं लैटिन इतिहासकारों और भारतीय तथा श्रीलंकाई विद्वानों की रचनाओं से कथा की ऐतिहासिक प्रामाणिकता उपलब्ध होती है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, चन्द्रगुप्त मौर्य की वंश परंपरा विवादास्पद है और इस सम्बन्ध में निम्न कुल परंपरा से लेकर क्षत्रिय कुल तक के विभिन्न मत मिलते हैं।

पुराण

पुराणों में जो सबसे प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ हैं उनमें चन्द्रगुप्त की अपेक्षा नंदों के वंश की चर्चा विशेष रूप से हुई है। वे सिर्फ यह चर्चा करते हैं कि ब्राह्मण कौटिल्य ने अधार्मिक नंद का नाश कर चन्द्रगुप्त को राज्य का प्रधान शासक बनाया। कौटिल्य- जो धर्म का प्रबल समर्थक था- के द्वारा चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक से संकेतित होता है कि वह राजपद के लिए सुयोग्य क्षत्रिय था। पुराणों में कहीं भी मुरा का उल्लेख नहीं मिलता जो चन्द्रगुप्त की तथाकथित मां अथवा दादी थी इसमें कहीं भी उसे शूद्र अथवा निम्न कुल का नहीं बताया गया है और न वे उसे पूर्ववर्ती नंद वंश से जोड़ते हैं।

श्रीधरस्वामी

सर्वप्रथम 'विष्णुपुराण' के टिप्पणीकार श्रीधरस्वामी ने मौर्य पदवी के आधार पर चन्द्रगुप्त के निम्नकुल की चर्चा की है। उन्होंने मौर्य उपाधि की व्युत्पत्ति मुरा से बतलाने का प्रयास किया है जो नंद राजा की अनेक पत्नियों में एक थी और उसे चन्द्रगुप्त की मां माना है। लेकिन यह टिप्पणीकार ग़लत व्याकरण और काल्पनिक इतिहास दोनों का दोषी है। मुरा से व्युत्पन्न शब्द मौरिया है न कि मौर्य। फिर, टिप्पणीकार चन्द्रगुप्त को नंदों का वंशज बतलाता है लेकिन मुरा के नाम के साथ निम्न कुल का दोष नहीं जोड़ता। वह उसका उल्लेख नंद राजा की विधिवत ब्याही हुई पत्नी के रूप में करता है और उससे यह निष्कर्ष निकालता है कि चन्द्रगुप्त शूद्र कुल का था क्योंकि नंद स्वयं उस जाति के थे।

मुद्राराक्षस और अन्य

मुद्राराक्षस चन्द्रगुप्त को मौर्य के साथ-साथ हंदनवाय भी कहता है। क्षेमेंद्र और सोमवाद उसे पूर्वनंदसुत कहते हैं और असली नंद का पुत्र मानते हैं। इसके विपरीत, विष्णु पुराण के टीकाकार धुंडीराज चन्द्रगुप्त को मौरिया, जो नंद राजा सर्वार्थसिद्ध और मुरा का पुत्र था, का ज्येष्ठ पुत्र मानते हैं।

बौद्ध साहित्य

बौद्ध साहित्य इसके बारे में बिलकुल भिन्न कहानी कहता है। 'दिव्यवदन' चन्द्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार को अभिषेकित क्षत्रिय बतलाकर चन्द्रगुप्त के क्षत्रीय कुलोत्पन्न होने का संकेत देता है। श्रीलंकाई इतिवृत्त 'महावंश' के अनुसार चन्द्रगुप्त वर्तमान पूर्वी उत्तरी प्रदेश के गोरखपुर जिले में तराई में रूमिनदेई और कासिया के बीच में कहीं अवस्थित

पिप्फाली वन के मोरिया (मोर पक्षी के आधार पर नामित) नामक क्षत्रिय कुल का वंशज था। यह कुल बुद्ध के समय में मौजूद था और इसका उल्लेख 'महापरिनिब्बानसुत्त' में हुआ है जो बौद्धों के प्रामाणिक और प्राचीन धर्म वैधानिक ग्रंथों में एक माना जाता है। इस ग्रंथ के अनुसार मोरिया ने बुद्ध के अवशेषों के एक अंश का दावा करते हुए मल्लों के पास एक दूत भेजा। उनका दावा था- बुद्ध क्षत्रिय जाति के थे और हम भी क्षत्रिय जाति के हैं।

जैन परंपरा

जैन मत भी मोर और चन्द्रगुप्त के कुल नाम के बीच सम्बन्ध के बारे में बौद्धों का समर्थन करता है वहीं बौद्धों के अनुसार चन्द्रगुप्त मयूर-पोषक ग्राम-प्रधान की पुत्री का बेटा था जबकि जैनों के मुताबिक वह मोरिया कुल का पुत्र था। ज्ञात होता है कि जैन लेखक चन्द्रगुप्त के परिवार के कुल से परिचित नहीं थे और उन्होंने सिर्फ पालि पद 'मोरिया' का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ दिया है। वहीं परिशिष्टपुराण चंद्रगुप्त को मयूर-पोषक ग्राम-प्रधान की पुत्री का बेटा बताता है।

विदेशी विवरण

लैटिन का चिर-प्रतिष्ठित लेखक जस्टिन चन्द्रगुप्त को 'साधारण परिवार में उत्पन्न' मानता था। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वह निम्न जाति का था, बल्कि इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वह एक सामान्य व्यक्ति था और सिंहासन पर बैठने के बिना किसी पारंपरिक दावे के राजपद पाने का इच्छुक था। ग्रीक जीवनी लेखक और नैतिक दार्शनिक प्लूटार्क के अनुसार चन्द्रगुप्त अपने निम्न कुल के बजाए अपने प्रतिद्वंद्वी के निम्न वंश से लाभ उठाने का प्रयास करने वाला व्यक्ति था।

सारे उपलब्ध साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मौर्य वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त उस मोरिया वंश का क्षत्रिय था जो आरंभ में पिप्फालीवन में शासन करता था। चन्द्रगुप्त का पिता अपने कुल का प्रधान था और सीमा-संघर्ष में दिवंगत हो गया था। उसकी मृत्यु के उपरांत उसके परिवार का ऐश्वर्य घटने लगा। उसकी खोई हुई प्रतिष्ठा को वापस लाने का काम चंद्रगुप्त ने ही किया।

12.3.2 चन्द्रगुप्त मौर्य का आरंभिक जीवन

चन्द्रगुप्त की जन्मतिथि का सही पता नहीं हो पाया है। प्लूटार्क के अनुसार जब वह 329-25 ई. पूर्व पंजाब में सिकंदर से मिला तो नौजवान पट्टा था। उसका जन्म ईसा की चौथी सदी पूर्व के मध्य के पहले नहीं हुआ होगा।

'महावंश' के अनुसार चन्द्रगुप्त की मां ने अपने पति की मृत्यु के उपरांत पुष्पपुर (कुसुमपुर अर्थात् पाटलिपुत्र) में शरण लेनी चाही थी और वहीं उसका जन्म हुआ। उसका पालन-पोषण एक गांव में पहले एक ग्वाला (गौ-पालक) और बाद में एक आखेट के द्वारा हुआ। बचपन से ही उसमें होनहार के लक्षण दिखने लगे। जब वह अपने साथियों के साथ राजा की भूमिका अदा करता था तो उन पर छा जाता था। इसी से चाणक्य अर्थात् कौटिल्य, जो उस गांव से गुजर रहा था, का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। वह उसे तक्षशिला ले गया। इस नए परामर्शदाता एवं मार्गदर्शक ने उसे जीवन में आगे बढ़ने और लक्ष्य हासिल करने के गुण सिखलाए। इनमें अन्य बातों के अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य था नंद राजा, जिसने चाणक्य को अपमानित किया था, के अत्याचार और घृणित शासन से देश को हर हाल में मुक्त करना।

नंदों का प्रभुत्व उनके कुल के कारण तो 'अवैध' और 'अधार्मिक' माना ही जाता था, उसके शासकों की दुष्टतापूर्ण प्रवृत्ति और प्रजा जन से बल पूर्वक कर वसूली के कारण भी लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। नाजायज ढंग से नदों द्वारा धन संग्रहन लोकोक्ति का रूप ले चुका था। इसकी कुख्याति दक्षिण में तमिल प्रदेश तक फैल चुकी थी। पंजाब और उत्तर-पश्चिम भारत सिकंदर के सामने घुटने टेक चुके थे। उसके प्रतिनिधि शासकों द्वारा इन क्षेत्रों का लगातार दोहन

हो रहा था। चन्द्रगुप्त के सामने दोहरे लक्ष्य थे। उसे देश को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त कराने के साथ-साथ नंदों के दमनात्मक शासन का अंत करना था। चाणक्य द्वारा चंद्रगुप्त को सौंपे गए इन कार्यों को पूरा करना बहुत कठिन था किंतु इन दोनों लक्ष्यों को प्राप्त करने में उसने भारी सफलता प्राप्त की। उसने शीघ्रतापूर्वक देश के सैन्य-संसाधनों को संगठित किया, उनका मनोबल बढ़ाया, उनमें प्रतिरोध की भावना पैदा की और देश में अनुपम नवजीवन का संचार किया। इन सबसे पूरी तरह लैस होकर उसने राष्ट्रीय मुक्ति का समर छेड़ दिया जिसमें उसे गजब की सफलता मिली। उसके प्रयासों से ऐसी राष्ट्रीयता कायम हुई जो बाद के अनेक भारतीय शासकों के लिए स्पृहणीय बन गई। ऐसी राष्ट्रीय एकता इसके पूर्व कभी नहीं कायम हुई थी। उसने सिकंदर को भी, जब वह 326 ई. पूर्व में पंजाब में था, अपने मिशन का निशाना बनाना चाहा। सिकंदर उसकी धृष्टता से इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने उसे मार डालने का आदेश जारी कर दिया। एक अन्य विवरण के अनुसार वह सिकंदर की छावनी में, जहाँ वह ग्रीक सैन्य-रणनीति का अध्ययन करने गया था, गुप्तचरी करते हुए पकड़ा गया। लेकिन वह किसी प्रकार बच निकला। वह भारत पर अपना आधिपत्य कायम करने के लिए दृढ़ संकल्प था और यह अच्छी तरह समझता था कि अपने लक्ष्य-सिद्धि के लिए उसे अपने पर ही भरोसा करना था।

12.3.3 चन्द्रगुप्त मौर्य का परवर्ती जीवन

पालि रचना 'महावंशटीका' के अनुसार चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने विभिन्न स्रोतों से विशाल सेना खड़ी करने का अभियान चलाया। जस्टिन ने इन सैनिकों को धनलोलुप, शिकारी और लुटेरा कहा है। 'अर्थशास्त्र' के अनुसार सेना में भर्ती चोरों, म्लेच्छों, संगठित दस्युओं, वनवासियों और लड़ाकू वंशों से की जानी चाहिए। ऐसे तत्त्व भारी संख्या में माइलोई, ऑक्सीड्रुकाई, अस्टाकेनोई जैसे गणतांत्रिक लोगों की पराजय और विघटन के पश्चात पंजाब में उपलब्ध थे। इन्होंने सिकंदर का मुकाबला बड़ी बहादुरी से किया था, लेकिन संगठन और नेतृत्व की कमी के कारण सफल नहीं हो सके थे। चन्द्रगुप्त ने इन बिखरे तत्त्वों को एक सूत्र में पिरोकर एक विशाल और दुर्जेय सेना खड़ी की। उसकी निजी वीरता और आकर्षक व्यक्तित्व ने उसकी नेतृत्व-क्षमता में चार चांद लगा दिए। उसने हिमालयी नृप पर्वतक से भी मैत्री स्थापित की (ईसा की छठी सदी में विशाखदत्त-रचित 'मुद्राराक्षस' और जैन रचना 'परिशिष्ट पर्वन' के अनुसार इसकी सत्यता संदिग्ध है)। 'मुद्राराक्षस' के अनुसार इस मैत्री की बदौलत शकों, यवनों, किरातों, कंबोजों, ओर्सिकों और बाहिलिकों से निर्मित मिली-जुली सेना खड़ी की गई। बिना किसी अन्योक्ति के इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने सारे उपलब्ध स्रोतों का उपयोग किया और अपनी विशाल संयुक्त सेना से लैस होकर विद्यमान नंद साम्राज्य को उखाड़ फेंकने में संलग्न हो गया।

चन्द्रगुप्त द्वारा मगध विजय के ब्योरे उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी, विभिन्न स्रोतों से ये एकत्र किए जा सकते हैं। 'महावंशटीका' के अनुसार चन्द्रगुप्त ने सीमांत प्रदेशों को जीते बगैर केंद्र पर आक्रमण का जो अभियान चलाया वह उसकी प्रारंभिक गलती थी। इसी प्रकार, जैन परंपरा में चन्द्रगुप्त की अग्रगति की तुलना एक ऐसे बच्चे से की गई है जो अपने अंगूठे को किनारे के शीतल भाग के बदले गर्म कचौड़ी के बीच वाले भाग पर रख देता है। बौद्ध साहित्य में जिक्र आया है कि पाटलिपुत्र तक पहुँचने में उसे सीमांत राष्ट्रों और जनपदों में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में आरंभ में सफलता नहीं मिली थी।

विभिन्न वृत्तांतों से स्पष्ट होता है कि पाटलिपुत्र को नंदों से छीनने से पहले उसे इसके लिए अनेक प्रयास करने पड़े थे। 'मिलिंदपन्हो' भद्रसाल के नेतृत्व वाली नंद सेना के ध्वंस के बाद नरसंहार का अतिरंजित विवरण प्रस्तुत करता है।

ब्राह्मण-ग्रंथ तो नंदवंश के पराजय का सारा श्रेय कौटिल्य को देते हैं। 'पुराण', 'अर्थशास्त्र' और 'मुद्राराक्षस' सभी चंद्रगुप्त के वीरोचित संघर्ष को पृष्ठभूमि में डाल देते हैं और मगध में सारे बदलावों का पूरा श्रेय चाणक्य (कौटिल्य) की कूटनीति और उसके द्वारा चन्द्रगुप्त को राजपद प्रदान करने के कार्य को देते हैं।

इन सारे वृत्तांतों में सत्य का अंश तो है किंतु पूरी सच्चाई किसी एक वृत्तांत में नहीं है। इन परस्पर विरोधी मतों में-

सामंजस्य स्थापित करते हुए कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त के सैन्य कौशल और रणभूमि में उसकी बहादुरी को चाणक्य की चतुराई भरी कूटनीति का भरपूर सहयोग मिला। इस विलक्षण प्रतिभा संपन्न ब्राह्मण, जो कौटिल्य और विष्णुगुप्त के नाम से जाता है, को 'अर्थशास्त्र' का रचयिता माना जाता है। ऐसा भी कहा गया है कि कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' का लेखक नहीं था। नंदों के प्रति उसके मन में गहरी घृणा थी। दोनों ने मिलकर नंदों का नाश किया। नंद वंश का विस्तृत साम्राज्य, जो गंगा की संपूर्ण घाटी और पूर्वी भारत से लेकर दक्कन के एक बड़े भाग तक फैला था, चन्द्रगुप्त के अधिकार में आ गया और इस प्रकार उसने मौर्य साम्राज्य की नींव डाली।

प्लूटार्क के अनुसार, यह घटना 326 ई. पूर्व में सिकंदर से चंद्रगुप्त की भेंट के अधिक अंतराल के बाद नहीं घटित हुई। बौद्ध साहित्य में चंद्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि 486 ई. पूर्व (बुद्ध महापरिनिर्वाण वर्ष) बताई गयी है। इससे स्पष्ट होता है कि चन्द्रगुप्त ने प्रथम मौर्य सम्राट के रूप में 324 ई. पूर्व से 300 ई. पूर्व तक कुल चौबीस वर्ष तक शासन किया।

अपने प्रथम लक्ष्य को प्राप्त करने के पश्चात् चंद्रगुप्त ने अपना ध्यान अपने दूसरे लक्ष्य 'विदेशी आधिपत्य से अपने देश को मुक्त करना' की ओर केंद्रित किया। पंजाब में यूनानियों के समक्ष बढ़ती कठिनाइयों, यूनानी क्षत्रपों के विरुद्ध भारतीयों के बढ़ते विद्रोहों और यूनानी तथा मैसिडोनियाई आधिपत्य वाली शक्तियों के बीच ईर्ष्या के विस्फोट ने उसका काम आसान कर दिया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि सिकंदर की 323 ई. पूर्व में मृत्यु हो गई। उससे उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और केन्द्रापसारी (विकेंद्रण) प्रवृत्तियों में बढ़ोतरी होने लगी। 323 ई. पूर्व में बेबिलोन में सिकंदर के साम्राज्य के प्रथम विभाजन से भारतीय स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। पोरस और आंभी अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों, जिनमें भारी बढ़ोतरी हुई, में स्वतंत्र हो गए। यूनानी सत्ता सिमट गई। लेकिन भारत में अभी भी दो महत्वपूर्ण पदाधिकारी रह गए थे। एक था भारत में यूनानी रक्षक सेना का प्रभारी यूडोमस और दूसरा था सिंध में यूनानी क्षत्रप पाइथन जो एजिनोर का पुत्र था। परंतु सिकंदर के साम्राज्य के दूसरे विभाजन जो 321 ई. पूर्व में त्रिपराडिसस में हुआ, के दौरान पाइथन को उसके बदले किसी को प्रतिस्थापित किए बगैर उत्तर-पश्चिम में स्थानांतरित कर दिया गया। 321 ई. पूर्व में भारत से यूनानियों की गुमसुम वापसी का कारण संभवतः यह था कि उस समय तक सिंध में चंद्रगुप्त का मुक्ति-संघर्ष आरंभ हो चुका था। वहाँ से वह आगे उत्तर की ओर बढ़ा जहाँ चंद्रगुप्त के पराक्रम से पराजित यूडोमस ने 317 ई. पूर्व में भारत से लौट जाने में ही अपनी भलाई समझी। उत्तर में अवस्थित पाइथन भी यूनान में राज्यारोहण संघर्ष में सम्मिलित होने के लिए 316 ई. पूर्व में लौट गया। चन्द्रगुप्त की उपलब्धियों का वर्णन करते हुए जस्टिन ने लिखा है, "सिकंदर की मृत्यु के बाद भारत ने दासता का जुआ उतार फेंका और उसके शासनाध्यक्षों को मौत के घाट उतार दिया। इस मुक्ति का प्रवर्तक था सन्द्रोकोटस"। यह सन्द्रोकोटस चन्द्रगुप्त ही था। पंजाब और सिंध की मुक्ति का कार्य आसान नहीं था। इसके लिए घोर संघर्ष करना पड़ा और यह संघर्ष लगभग 323 ई. पूर्व से 316 ई. पूर्व तक अर्थात् एक दशक चलता रहा।

एक ओर जब चंद्रगुप्त अपने देश को मुक्त करने और अपनी विजय को सुदृढ़ करने में संलग्न था तो दूसरी ओर सीरिया का यूनानी राजा, जो सिकंदर के साम्राज्य के पूर्वी भाग में उसका उत्तराधिकारी बना था, अपने खोए प्रांत को फिर से प्राप्त करने के लिए भारत की ओर बढ़ रहा था। उसके और चन्द्रगुप्त के अधिकार-क्षेत्रों की सीमा-रेखा सिन्धु नदी थी।

यहीं पर दोनों के बीच मुठभेड़ हुई। एक अन्य चिर-प्रतिष्ठित लेखक के अनुसार “सेल्यूकस ने सिन्धु को पार किया और नदी के तट पर स्थित भारतीय राजा चंद्रगुप्त के साथ उसका युद्ध छिड़ गया”। इस युद्ध की न तो तिथि का पता है, न उसकी अवधि का। फिर भी, चन्द्रगुप्त के साथ सेल्यूकस की संधि अथवा समझौते की तिथि का उल्लेख करते हुए जस्टिन ने कहा है कि पूरब में यह समझौता ऐंटिगोनस जो 301 ई. पूर्व में मरा, के साथ युद्ध को जारी रखने के लिए सेल्यूकस के घर लौटने से पहले हुआ था। दोनों के बीच का यह संघर्ष आमतौर पर 305 ई. पूर्व में हुआ माना जाता है। जिन यूनानी लेखकों ने सिकंदर के अभियानों के वर्णन में अति सावधानी बरती है उन्होंने भारत पर सेल्यूकस के आक्रमण के सम्बन्ध में गजब की चुप्पी साध रखी है। कारण बिलकुल स्पष्ट है। दरअसल, पश्चिमी जगत के लिए यह बहुत ही अपमानजनक संधि थी। एक अन्य चिर-प्रतिष्ठित लेखक, स्ट्रेबो के अनुसार सेल्यूकस ने 500 हाथियों और एक वैवाहिक सम्बन्ध जिसका सही स्वरूप स्पष्ट नहीं है, के बदले चन्द्रगुप्त को हेरात, कांधार, काबुल और बलूचिस्तान का एक भाग अर्पित कर दिया। जैसा कि स्ट्रेबो लिखता है, दोनों के बीच राजनयिक सम्बन्ध भी स्थापित हुए और सेल्यूकस ने अपना दूत, मेगास्थनीज, को पाटलिपुत्र में चंद्रगुप्त के दरबार में भेजा। जहाँ उसने अपनी प्रसिद्ध ‘इंडिका’ की रचना की। संधि की इन शर्तों से इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि चन्द्रगुप्त के साथ युद्ध में सेल्यूकस ने मात खाई और चन्द्रगुप्त ने अपने नवस्थापित साम्राज्य की सीमा को अफ़गानिस्तान और बलूचिस्तान का अधिग्रहण कर ठोस और वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

चंद्रगुप्त के पञ्चवर्ती जीवनवृत्त को जानने के लिए हमें छिटपुट शिलालेखों और लिखित सूचनाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। प्लूटार्क की यह उक्ति अस्पष्ट-सी है : 6,00,000 व्यक्तियों से सज्जित सेना के बल पर चन्द्रगुप्त ने संपूर्ण भारत को रौंद डाला और अपने अधीन कर लिया। जस्टिन भी उसके द्वारा पूरे देश पर आधिपत्य की चर्चा करता है। एक महत्वपूर्ण राज्य सौराष्ट्र पर विजय और चंद्रगुप्त के साम्राज्य में उसका विलयन रुद्रदमन के 150 ईस्वी में (शक संवत् 72 में) जूनागढ़ शिलालेख से स्पष्ट रूप से अभिप्रामाणित होता है। इस शिलालेख में कहा गया है कि सौराष्ट्र-काठियावाड़ चंद्रगुप्त के सौराष्ट्र के गवर्नर वैश्य पुष्यगुप्त, जिसने प्रसिद्ध सुदर्शन झील का निर्माण कराया, के द्वारा शासित होता था। इसमें संदेह नहीं कि लगभग 321 ई. पूर्व में मौर्य साम्राज्य के आरंभ के साथ भारतीय इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात हुआ क्योंकि इसके साथ भारत में पहली बार राजनीतिक एकता और प्रशासकीय एकरूपता कायम हुई। चंद्रगुप्त द्वारा स्थापित मौर्य साम्राज्य पूरब में बंगाल की खाड़ी से पश्चिम में बलूचिस्तान तक और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में चितल दुर्ग जिले तक फैला था।

चन्द्रगुप्त एक महान विजेता ही नहीं महान प्रशासक भी था। उसके दरबार में सेल्यूकस के दूत मेगास्थनीज ने उसकी शासन-व्यवस्था का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। शासन-कला पर लिखी गई पुस्तक ‘अर्थशास्त्र’, जिसका लेखक चंद्रगुप्त मंत्री और परामर्शदाता चाणक्य (कौटिल्य के नाम से भी प्रसिद्ध) माना जाता है, मेगास्थनीज के वृत्तांत को संपुष्ट एवं संपूरित करता है। पुराणों के अनुसार, चन्द्रगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी बिंदुसार था जिसकी शासनावधि 300 ई. पूर्व से 273 ई. पूर्व तक बतलाई जाती है। उसकी मृत्यु के उपरांत राज सिंहासन के लिए उसके पुत्रों में चार वर्षों तक संघर्ष चलता रहा। अन्ततोगत्वा उसका उत्तराधिकारी अशोक बना। अशोक के अनश्वर शिलालेख और स्तंभलेख इसके साक्ष्य हैं कि अशोक के अधीन सुदूर पूरब में असम और सुदूर दक्षिण में तमिल राज्य को छोड़कर सम्पूर्ण भारत मौर्य साम्राज्य का हिस्सा था।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. संक्षिप्त टिप्पणी:

- (i) चन्द्रगुप्त मौर्य का आरंभिक जीवन
- (ii) चंद्रगुप्त मौर्य की विस्तारवादी नीति

12.4 अशोक

अशोक के बारे में सारे ब्योरे भले ही स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं हो, इसमें संदेह नहीं कि वह भारतीय इतिहास में ज्ञात - नरपतियों की विशिष्ट मंडली में अत्यंत सम्मानजनक स्थान रखता है। शांति का महान अग्रदूत होने के कारण आज हम उसे एक आदर्श राजा के रूप में देखते हैं। विश्व के इतिहास में वह अकेला शासक है जो लोगों को सार्वभौम नैतिकता का संदेश देता है।

12.4.1 सम्राट अशोक

अशोक के राजत्व का आदर्श अपनी प्रजा का भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से अर्थात् इस लोक में भी और परलोक में भी कल्याण को प्रोत्साहित करना था। धम्म (धर्म) से उसका लगाव कलिंग विजय से प्रारंभ होता है। 'जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र के कल्याण का आकांक्षी होता है, ठीक उसी प्रकार वह धर्म और नैतिकता के संदेशवाहक के रूप में अपनी प्रजा के वास्तविक कल्याण को प्रश्रय देने की नैतिक बाध्यता महसूस करता है। उसके शिलालेख VI में उसकी निम्न-लिखित उक्ति से भी यही संकेतित होता है: "और मैं ये सारे प्रयास इसलिए कर रहा हूँ ताकि मैं जीवित प्राणियों के ऋण चुका सकूँ, मैं इस लोक में उन्हें सुखी बना सकूँ और परलोक गमन के बाद वे स्वर्ग प्राप्त कर सकें। इस प्रकार, अशोक किसी राजा का यह परम कर्तव्य मानता है कि वह अपने प्रजा जन के सुख के लिए सारे संभव प्रयत्न करे।

शिलालेख XIII से ज्ञात होता है कि राजत्व के आदर्श अथवा उसके धार्मिक विचार में यह मोड़ उसके शासन के नौवें वर्ष में कलिंग पर विजय और उसे अपने साम्राज्य में शामिल करने के बाद आया। कलिंग युद्ध की विभीषिका से उसके मन में घोर पश्चाताप का भाव पैदा हुआ। युद्ध में भारी संख्या में मारे और बंदी बनाए गए लोगों को देखकर उसका दिल दहल उठा। एक सम्राट के रूप में उसे यह बहुत घृणित कार्य प्रतीत हुआ और उसी दिन से उसे 'रणभेदी' के स्थान पर धर्म की आवाज सुनाई पड़ने लगी।

युद्ध के पश्चात उसकी दृष्टि में सबसे बड़ी विजय रणभूमि में विजय के स्थान पर धर्म विजय हो गई और उसने पुत्रों और पौत्रों को यह सलाह दी कि वे युद्ध में विजय प्राप्त करने की बात न सोचकर धर्म के द्वारा विजय प्राप्त करने की बात सोचें क्योंकि इससे इस लोक में भी कल्याण होगा और परलोक में भी।

कलिंग युद्ध के बाद अशोक ने नर हत्या के साथ-साथ अन्य जीवों की हत्या पर भी रोक लगा दी। उस समय देश में वैदिक यज्ञों में बलि का प्रचलन था। अशोक ने इस प्रथा का घोर विरोध किया। उसने वैसे उत्सवों का भी तिरस्कार किया जिसमें रंगरलियां मनाने वालों में मांस बांटे जाते थे। जीवों के प्रति करुणा-भाव के कारण उसने एक आचार-संहिता बनाई; (शिलालेख-1) और उसके द्वारा विभिन्न जीवों की हिंसा पर रोक लगा दी। इन पाबंदियों में पशु-पक्षियों के साथ होने वाली हिंसा भी शामिल थी। डी. आर. भंडारकर के शब्दों में, "अशोक का अभीष्ट था संपूर्ण विश्व, जिसमें मनुष्य के साथ-साथ पशु और अन्य प्राणी भी शामिल हैं, के भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण को प्रश्रय देना, वह भी सिर्फ अपने देश में ही नहीं, अपितु संपूर्ण ज्ञात विश्व के स्तर पर।

12.4.2 अशोक का धम्म

अशोक के आदर्श का स्रोत उसका धर्म था। उसका धर्म कतिपय नैतिक सिद्धांतों और मानवीय आदर्शों की संहिता है और उसका आयाम विश्व स्तर का है। जहाँ तक संभव हो पाया, उसने इसी अभीष्ट के प्रचार के प्रयत्न किए। उसके लेखों का धम्म किसी विशेष धर्म तक सीमित न होकर जात और पंथ से मुक्त, सभी धर्मों का सार है। अपने इस धम्म के द्वारा उसने समाज के विभिन्न संप्रदायों और वर्गों को एकसूत्र में पिरोने की चेष्टा की और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं सार्वभौम भ्रातृत्व को प्रोत्साहित किया।

विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि अशोक की धम्म संबंधी अवधारणा बौद्ध धर्म पर आधारित थी या नहीं।

नकारात्मक रूप में हम कह सकते हैं कि यह देश में उस समय प्रचलित किसी भी धर्म से एकात्म नहीं था। उसका धम्म निश्चित रूप से बौद्ध धर्म नहीं था। यह उसकी अपनी धार्मिक पद्धति थी। “बौद्ध धर्म के गंभीर विचारों अथवा मौलिक सिद्धांतों के बारे में वह कोई चर्चा नहीं करता: चार आर्य सत्यों, अष्टांग मार्ग, प्रतीत्य समुत्पाद, बुद्ध के अलौकिक गुणों का कहीं उल्लेख नहीं है, निर्वाण की धारणा का जिक्र भी नहीं होता और न अनेक संप्रदायों के बीच के अनेक मतभेदों की चर्चा होती है ;(केंब्रिज हिस्ट्री, पृष्ठ संख्या 505) कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि उसके धम्म संबंधी विचार में सभी धार्मिक संप्रदायों, जिनमें बौद्ध धर्म भी एक था, के सार तत्त्व अथवा सामान्य नैतिक सिद्धांत समाविष्ट थे।

शिलालेखों में वर्णित धम्म

धम्म के अंतर्गत उसके फरमानों में निम्नलिखित सदगुण निहित हैं:

(i)साधुता (ii) अपासिनवम अर्थात् पाप से मुक्ति (iii) दया (iv) दानम (v) सत्यम (vi) शौचम (पवित्रता) (vii) मार्दवम (मृदुलता) (viii) संयम और (ix) धर्मरति (नैतिकता से लगाव)

अशोक के स्तंभ लेख I में धर्म के प्रति अनुराग, आत्म-परीक्षण, आज्ञाकारिता, पापमय और उत्साह इस लोक के साथ-साथ परलोक में सुख-प्राप्ति के अपेक्षित गुण कहे गए हैं। जहाँ तक इसके व्यावहारिक पक्ष का प्रश्न है, यह जीवन के विविध संबंधों को समाविष्ट करते हुए विस्तृत आचरण-संहिता का विधान करती है। इसमें निम्नलिखित बातें शामिल हैं:

- (i) प्राणानाम अनारंभ, अर्थात् जीवित प्राणियों के वध से परहेज,
- (ii) जीवों के प्रति अहिंसा,
- (iii) सुश्रुसा अर्थात् माता, पिता और गुरुओं का आज्ञापालन,
- (iv) अपचिन्ति अर्थात् शिष्यों द्वारा गुरु का आदर,
- (v) सम्प्रतिपत्ति अर्थात् ब्राह्मणों, श्रमणों, संबंधियों और परिचितों के प्रति सम्यक व्यवहार,
- (iv) दानम अर्थात् ब्राह्मणों, श्रमणों, मित्रों और वृद्धों के प्रति उदारता,
- (vii) मितव्ययिता और
- (vii) बचत में संयम

इन सामान्य कर्तव्यों को शामिल कर सम्राट ने घरेलू जीवन की पवित्रता पर बल दिया जो समाज के कल्याण के लिए परमावश्यक है। मानवीय संबंधों के दायरे में ब्राह्मण और श्रमण भी शामिल थे ताकि गृहस्थ, संन्यासियों का भरण-

पोषण कर सकें। शिलालेख III और IV में सम्राट ने निर्देश दिया निम्न प्राणियों के साथ उनके स्वामी सदव्यवहार करें और इस निर्देश को अमली जामा भी पहनाया।

शिलालेख XIII में धम्म को सारांशबद्ध करते हुए कहा गया है कि धम्म का अर्थ है, पशुओं और पक्षियों समेत सभी प्राणियों के प्रति दया, अहिंसा और समदर्शिता बरतना। इसमें अशोक ने कुछ वैसी बुराइयों की चर्चा की है जिनसे मनुष्य को बचना चाहिए, जैसे-क्रोध, मान, ईर्ष्या, द्वेष, निष्ठुरता, निर्दयता इत्यादि। शिलालेख X में धम्म को नकारात्मक रूप में परिभाषित करते हुए इसे अपरिश्रवम अर्थात् बुराई से मुक्ति कहा गया है।

पूर्व में इसकी चर्चा हो चुकी है कि वह अपने भाइयों और बहनों, पुत्रों और पौत्रों तथा अन्य महिला संबंधियों को कितना स्नेह देता था। वह उनके लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों में गहरी अभिरुचि रखता था। परिवार से इतर सामान्य जन को अपनी संतान समझकर उनके कल्याण के लिए हमेशा क्रियाशील रहता था। स्तंभ लेख II में अशोक स्वयं मनुष्यों और पशुओं, पक्षियों और जल जीवों के संबंध में अपने नानविध सत्कार्यों का उल्लेख करता है। अशोक धर्मानुशासन पर भी बल देता है और नैतिक शिक्षा देना राजा का परम कर्तव्य मानता है। वह स्वयं देश के विभिन्न भागों में अपनी प्रजा के बीच में घूमता था, उन्हें नैतिक उपदेश देता था और शिलालेख VIII में वर्णित नैतिकता के संबंध में उनसे प्रश्न भी पूछता था। अपने शिलालेख VI में सभी के हित को प्रोत्साहित करना राजा का परम कर्तव्य उद्घोषित करता है जिसका निष्पादन उद्यम और तत्परता के साथ किया जाना चाहिए।

अशोक ने सामान्य जीवन के आचरण और धम्म के आचरण में फर्क किया है ताकि लोग धम्म की धारणा को समझ सकें। सामान्य दान से धर्म दान बेहतर है। हालांकि भिक्षा-दान की प्रशंसा की गई है, किंतु उससे उच्चतर सिद्धांत की सीख देते हुए कहा गया है कि धर्म के नियम का दान से बढ़कर कोई दान नहीं है, धार्मिकता के वितरण से बढ़कर कोई वितरण नहीं है। दूसरी बात यह है कि अशोक लोगों, विशेषकर महिलाओं, द्वारा किए धार्मिक अनुष्ठानों और क्रियाओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था, क्योंकि उसकी राय में उससे कोई लाभ नहीं होता। सही धार्मिक अनुष्ठान वे हैं जो बड़े परिणाम पैदा करते हैं। ऐसे अनुष्ठानों में दासों और भृत्यों के प्रति सदव्यवहार, शिक्षकों का आदर, जीवन के प्रति सम्मान और श्रमणों एवं ब्राह्मणों के प्रति उदारता जैसी चीजें शामिल हैं।

तृतीयतः अशोक सामान्य विजय के बदले धर्म विजय पर बल देता है और उसी को सच्ची विजय मानता है। किसी राजा की महिमा उसके राज्य के भौतिक विस्तार पर नहीं बल्कि नैतिक प्रबोधन द्वारा लोगों के दिल और दिमाग पर विजय पर निर्भर करती है।

अशोक के नैतिक सुधार संबंधी विचार अनेक सिद्धांतों और धार्मिक दृष्टिकोणों से प्रभावित हैं। वह आत्म-परीक्षण की योग्यता पर विशेष बल देता है। इसका वास्तविक अर्थ है अपने बुरे कर्मों की अपने अच्छे कर्मों से तुलना करना (स्तंभ लेख III)। स्तंभलेख I में वह नैतिक जीवन के सहायक के रूप में गहन आत्म-परीक्षण और उत्कट उत्साह पर बल देता है।

इसी प्रकार वह नैतिक उन्नयन के साधन के रूप में आत्म-उद्यम की आवश्यकता पर भी बल देता है। 'ऊंचे दर्जे के व्यक्ति के लिए तो यह और भी आवश्यक है (शिलालेख X)। वह आगे कहता है, "वास्तव में पाप से मुक्ति किसी के लिए भी कठिन है चाहे वह निम्न दर्जे का हो या ऊंचे दर्जे का। इसके लिए भारी पराक्रम की आवश्यकता होती है और इसके लिए अन्य लक्ष्यों को त्यागना पड़ता है। माइनर शिलालेख I की उद्घोषणा है "छोटे और बड़े सभी उद्यम करें"। वह इस उद्देश्य का अधिक से अधिक विस्तार चाहता था। वह यह कहना नहीं भूला कि भारतीय सीमाओं से बाहर के लोगों को भी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए काम करें।

अशोक ने सहिष्णुता पर भी विशेष बल दिया। ऐसा जान पड़ता है कि भारत में उसके शासन-काल में अनेक धार्मिक संप्रदाय और मत फलते-फूलते थे और इसीलिए सहिष्णुता को परम कर्तव्य माना गया। सहिष्णुता का मूल मंत्र है वाक-संयम, “अपने धर्म की प्रशंसा और अन्य धर्मों की निंदा से परहेज। इसी आधार पर विभिन्न धर्मों के अनुयायी आगे बढ़ सकते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि लोग एक दूसरे के मत को ठीक से जाने-समझें ताकि एक संप्रदाय के लोग दूसरे संप्रदायों के सिद्धांत की कद्र कर सकें। इसी से व्यापक दृष्टिकोण, उदारता और सहिष्णुता, और सिद्धांतों की पवित्रता, जो धर्म के सार तत्त्व हैं, पैदा होगी (शिलालेख XII)।

अशोक के धर्म की एक अन्य विशेषता है धर्म के सार पर बल। प्रत्येक धर्म के दो पक्ष होते हैं- नैतिक और सैद्धांतिक। आचार शास्त्र धर्म की आंतरिक और सिद्धांत उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है। सारे धर्म नैतिक पक्ष पर एकमत हैं लेकिन उसकी बाह्य अभिव्यक्ति को लेकर उनमें मतभेद हैं। आचार-शास्त्र धर्म का सार अथवा प्राण है। डी.आर. भंडारकर के शब्दों में, “अन्य सारे संतों की भांति अशोक के दिमाग की मौलिकता है धर्म के सार पर उसकी एकाग्रता जो सभी संप्रदायों में सामान्य रूप से मिलती है, विशेषकर ऐसे समय में जब वह उनकी दृष्टि से ओझल हो गई है।

अंततः राजाओं और प्रशासकों के लिए धर्म विजय के आदर्श का विधान किया गया है। राजा की वास्तविक कीर्ति उसके राज्य के क्षेत्रीय विस्तार पर निर्भर नहीं करती, अपितु इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपनी प्रजा के नैतिक उन्नयन में किस हद तक सहायक रहा है। इससे जाहिर है कि इन तथा ऐसे अन्य आदेशों के द्वारा अशोक नैतिकता को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नियामक सिद्धांत और शक्ति के रूप में हृदयंगम कराने और राजनीति बल्कि जीवन के सारे क्रियाकलाप के आध्यात्मीकरण का प्रयास करता है। उसके आदर्श और सिद्धांत एक नई भाषा में अभिव्यक्त होते हैं जिसमें अनेक प्रकार के पद स्वयं अशोक द्वारा अन्वेषित हैं। शिलालेख-1 में वह अपने अभिप्राय को सारांशबद्ध करते हुए कहता है कि उसकी इच्छा है कि लोगों की देखभाल, उन पर शासन, उनका सुख और उनकी सुरक्षा धर्म द्वारा विनियमित हो और वे धर्म पर निर्भरता और अनुरक्ति में हमेशा आगे बढ़ते रहें।

यह ध्यान देने की बात है कि अशोक परलोक में विश्वास करता था जैसा कि बार-बार उसके अनेक शिलालेखों और स्तंभ लेखों में जिक्र आया है। वह यह भी मानता था कि इस लोक में धर्म का अनुसरण करने से परलोक में स्वर्ग अथवा सुख की प्राप्ति होती है। वह स्वर्ग की नित्यता और, फलस्वरूप, आत्मा की अमरता में भी विश्वास करता था। परलोक को वह जीवन का अंतिम लक्ष्य मानता था। स्वर्ग में विश्वास के कारण वह अपने शिलालेख X में कहता भी है कि किस प्रकार उसने लोगों के सामने स्वर्ग सुख की तस्वीर प्रस्तुत कर उन्हें सदगुण की ओर प्रेरित किया।

इन लेखादेशों में इस रूप में प्रस्तुत धम्म नैतिक और सदगुण भरा जीवन का ही दूसरा नाम है और यह सभी धर्मों की मौलिक समानताओं पर आधारित है। किसी भी अर्थ में यह सांप्रदायिक न होकर पूर्णतः सार्वभौम है, सभी धर्मों का सार है और विभिन्न धर्मों में विश्वास करने वाले लोगों के एक विशाल साम्राज्य के सम्राट के सर्वथा अनुकूल है। चूंकि अशोक विभिन्न प्रकार के संप्रदायों और समुदायों का संरक्षक था इसलिए एक ऐसी पद्धति को सुनिश्चित करना उसका दायित्व था। जिसे वह अपनी विभिन्न कार्यों धर्मों और मतों वाली प्रजा से मनवा सके। इस प्रकार उसने एक सार्वभौम धर्म की आधार शिला रखी और विश्व इतिहास में ऐसा करने वाला वह संभवतः पहला व्यक्ति था।

12.4.3 बाह्य संबंधों में धर्म का प्रचार

अशोक जिन स्वतंत्र राज्यों के संपर्क में था उनमें अपने नैतिक विचारों के प्रचार के लिए उसने विदेशी शिष्टमंडल की एक सक्षम प्रणाली संगठित की। विदेशी मिशन की उसकी अवधारणा पूर्णतः मौलिक थी और इसके वांछित परिणाम भी निकले। साम्राज्य के सभी अधीनस्थ राज्यों और सीमाओं की जनजातियों, दक्षिण भारत में इसकी सीमा के भीतर

के स्वतंत्र राज्यों और पांच यूनानी आधिपत्य वाले देशों- सीरिया, मिस्र, साइटेन, मेसिडोनिया, ईपिरस- में राजकीय धर्म-प्रचारक भेजे गए। इसी उद्देश्य से अशोक ने अपने पुत्र महेश और पुत्री संघमित्रा को तिस्स के शासन-काल में श्रीलंका भेजा।

इस प्रकार अशोक के नैतिक तंत्र के दायरे में लाए गए सीमावर्ती राज्यों और जनजातियों में शामिल थे- काबुल घाटी के क्षेत्रों के कंबोज, गांधार और यवन, विंध्य क्षेत्र और पश्चिमी घाटों के भोज, पुलिंद और पितेनिक, और आंध्र राज्या। चार स्वतंत्र दक्षिणी राज्यों-चोल, पांड्य, केरलपुत्र और सतियपुत्र-के अशोक के साथ इतने अच्छे संबंध थे कि वह जब -

चाहे इन प्रदेशों की जनता को शिक्षा देने के लिए अपने धर्म-प्रचारकों को भेज सकता था।

भारत की कीमत पर इन धर्म-प्रचार को बाहरी देशों में भेजने के पीछे अशोक की समझ शायद यह थी कि उनके साथ-साथ इससे भारत का भी हित होगा। यही वे देश थे जिनके साथ भारत का उन दिनों सक्रिय संपर्क कायम था और ऐसे में यह वांछनीय था कि आचरण और विचार के आदर्श और संहिता समान हों। उन दिनों भारत में विदेशियों के भारी संख्या में आगमन का पता मेगास्थनीज के इस कथन से चलता है कि उनके विशेष हितों की देख-रेख के लिए एक पृथक प्रशासनिक विभाग बना हुआ था। पाश्चात्य यूनानी देशों के इतिहास के पास ऐसा कोई अभिलेख सुरक्षित नहीं है जिससे यह पता चल सके कि अशोक के धर्म-प्रचारकों को कितनी सफलता मिली लेकिन हम ऐसा नहीं मान सकते कि भारत से शांति और सद्भाव का पैगाम लाने वाले भारतीयों का इन देशों ने स्वागत नहीं किया। यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म ने पाश्चात्य विचार के कुछ पहलुओं पर अपनी छाप छोड़ी है। बी.ए. स्मिथ के शब्दों में ये पहलू हैं- विधर्मी गूढज्ञानवादी संप्रदाय और ईसाई शिक्षा के कुछ अधिक रूढ़िवादी रूपा। (भारत का आरंभिक इतिहास, चतुर्थ संस्करण, पृ.सं. 197)। यह लगभग निश्चित है कि अपने अतिव्यापक और सुनियोजित विद्यार्थियों के द्वारा अशोक एक स्थानीय भारतीय संप्रदाय के मत को विश्व के महान धर्मों में एक बनाने में सफल हुआ। उसने ब्राह्मणवादी हिंदू धर्म अथवा जैन-धर्म को नष्ट करने का प्रयास नहीं किया लेकिन हिंसक बलि-प्रथा पर रोक, जिसका खुला श्रेय उसने बौद्ध धर्म को दिया, और सक्रिय प्रचार ने निश्चय ही उसके प्रिय सिद्धांत को काफी लोकप्रिय बना दिया और भारत तथा श्रीलंका में इसे प्रमुख धर्म के रूप में स्थापित कर दिया।

12.4.4 अशोक की शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की अवधारणा

अशोक की धर्म-चर्चा तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक हम इसका विश्लेषण उसकी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की अवधारणा के आलोक में नहीं करते। भारत में धार्मिक सहिष्णुता की लंबी परंपरा है और सभी धार्मिक संप्रदायों और मतों का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व आज भी कायम है। लेकिन इस सहिष्णुता की जड़ें अशोक के धार्मिक क्रियाकलाप में ढूंढी जा सकती हैं। उसकी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की अवधारणा इस तथ्य में निहित है कि अन्य संप्रदायों के प्रति असम्मान और तिरस्कार के भाव नहीं होने चाहिए। अन्य संप्रदायों का सम्मान सभी लोगों के द्वारा सभी रूपों में किया जाना चाहिए। ऐसा करने से अपने संप्रदाय का भी भला होगा और अन्य संप्रदायों का भी। ऐसा न करने से अपने संप्रदाय की भी हानि होगी और अन्य संप्रदायों की भी।

अशोक के सह-अस्तित्व के सिद्धांत ने विभिन्न धार्मिक पंथ के अनुयायियों को सद्भावपूर्ण एकता में बाँधने का काम किया। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, सम्राट ने ब्राह्मण, जैन या अन्य किसी मत को नष्ट करने का प्रयास नहीं किया, बल्कि कुछ नैतिक सिद्धांतों और आचरणों के द्वारा सभी संप्रदायों को ऐसा सामान्य आधार प्रदान करने की चेष्टा की जो सभी को स्वीकार्य हो। अशोक ने धर्म विजय की अवधारणा का प्रचार किया। यह बाद के हिंदू सम्राटों की दिग्विजय की अवधारणा से भिन्न है क्योंकि दिग्विजय का अर्थ था अधिराज्यों का क्षेत्रीय विस्तार। अशोक की उत्कट

अभिलाषा- मानव हृदय को तलवार के बल पर नहीं बल्कि मानवता के उच्च आदर्शों- प्रेम, सद्भाव, सहानुभूति, अनाक्रमण के आश्वासन और धर्मपरायणता एवं लोक-कल्याण के कार्यों के द्वारा मानवता का उत्थान- के बल पर जीतने की थी।

अशोक के धम्म में परिलक्षित अहिंसा और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धांत शांति, प्रगति और समृद्धि की वैश्विक शक्ति के अस्त्र हैं जो सैन्य-बल पर आधारित आधिपत्य स्थापित करने के लिए नहीं हैं। इस तरह अशोक का साम्राज्य धर्म का साम्राज्य था और वह नेकी पर टिका था, बल-प्रयोग पर नहीं। उसने अपनी प्रजा के विभिन्न समुदायों एवं संप्रदायों को विचार और आचरण से जुड़ी कुछ ऐसी सामान्य अवधारणाएँ प्रदान की जिसके कारण वह सार्वभौम प्रेम, नैतिकता और मानवता वाला प्रथम शासक कहलाने का हकदार बन जाता है। वह आज भी हमारे राष्ट्रीय प्रतीक में विराजमान है। इतिहास पर अशोक के धम्म की छाप ही इतनी गहरी है। विश्व के इतिहास में उसके द्वारा अदा की गई भूमिका के महत्व को टायनबी ने बड़े सटीक ढंग से लिपिबद्ध किया है, “अशोक को इस बात के लिए हमेशा याद किया जाएगा कि उसने अपनी राजनीतिक सत्ता के उपयोग में अपने आचरण में हमेशा अपनी अंतरात्मा की आवाज सुनी। यह इसलिए और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि हमारी भांति वह परमाण्विक युग का नहीं था, और आज की भांति उसके सामने आवश्यक उपयोगीवादी प्रोत्साहनों के कारण एक राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध का परित्याग करने की सुविधा भी नहीं थी। घोर संहारक अस्त्रों के साथ युद्ध करना भी उस समय सामान्य बात थी। ऐसी स्थिति में संपूर्ण मानव जाति के विनाश की बात तो दूर, अशोक अपनी प्रजा की बरबादी का जोखिम भी नहीं उठा सकता था।

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. दस पंक्तियों में अशोक के धम्म के मुख्य सिद्धांतों का उल्लेख करें।

12.5 मौर्यों का प्रशासन

उपर्युक्त स्रोतों के अतिरिक्त जैन और बौद्ध परंपराएँ, दिव्यवदान और मुद्राराक्षस जैसे साहित्यिक स्रोत (यद्यपि वे बहुत बाद की रचनाएँ हैं) और शिलालेख (जैसे रुद्रदामन के गिरनार शिलालेख) मौर्यों के अधीन प्रशासनिक संघटन के अध्ययन के लिए विभिन्न साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

12.5.1 केन्द्रीय प्रशासन

राजा

मौर्य शासन-व्यवस्था के शिखर पर राजा होता था। राजा मुख्यतः सत्ता का संचालक होता था जो राज्य के सात अवयवों (सप्तांग) में सर्वोपरि माना जाता था। उसका प्रधान कार्य था सामाजिक व्यवस्था को प्रस्थापित करना। अपराधियों को दंड देना और राज्य में शांति बनाए रखना उसका नैतिक कर्तव्य था। ‘अर्थशास्त्र’ उसे धर्म प्रवर्तक (राज-ऋषि) की संज्ञा देता है जिसे अपने प्रजा जन के समक्ष उच्च आदर्श प्रस्तुत करना होता था। उसके लिए जनसाधारण बच्चे सदृश थे जिनकी सुख-शांति की जिम्मेदारी राज्य के प्रधान के ऊपर थी और उनका उस पर एक प्रकार का ऋण था जिसे उत्तम शासन द्वारा ही चुकाया जा सकता था।

कौटिल्य राजा के लिए निम्नलिखित आदर्श प्रस्तुत करता है: राजा के लिए अपने प्रजा जन के उत्थान हेतु सतत क्रियाशील व्रत (धार्मिक कर्तव्य) है। उसका सर्वोत्तम धार्मिक अनुष्ठान है- प्रशासन कार्य और उसकी सर्वोच्च दानशीलता है- सब के प्रति समान व्यवहार।

ब्राह्मणों की संहिताओं, जैसे मनु और बौधायन, में इस बात पर बल दिया गया है कि राजा को धर्म शास्त्रों में निहित नियमों और देश में प्रचलित प्रथाओं के अनुसार आचरण करना चाहिए। अधिकारियों में मंत्री सर्वोच्च होते थे।

मंत्री परिषद

मेगास्थनीज के अनुसार राजा की सहायता के लिए मंत्रियों की एक परिषद होती थी जिसके सदस्य अपनी विवेक-बुद्धि के लिए प्रसिद्ध होते थे। पार्षदों में से उच्च पदाधिकारी चुने जाते थे जो संपूर्ण देश में धर्म के मूलभूत तत्त्वों को बतलाने और लागू करने के लिए उत्तरदायी थे। मौर्य शासन में चक्रवर्ती के आदर्श को पहली बार मूर्त रूप दिया गया। फिर भी मंत्री परिषद राजा की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाने का काम करती थी क्योंकि उसे नीति और प्रशासन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों में परिषद की सलाह लेनी पड़ती थी। इन पदाधिकारियों के सम्बन्ध में विभिन्न ग्रंथों में विभिन्न प्रकार की बातें कही गई हैं। यूनानी लेखक उन्हें पार्षद और कर निर्धारक कहते हैं, जबकि अशोक का शिलालेख VI उन्हें महामात्य अथवा उच्च पदाधिकारी कहता है। उच्च अधिकारियों में मंत्रियों का सर्वोच्च स्थान था। अशोक के धर्म महामात्र और धम्म का प्रचार करते थे। अर्थशास्त्र के अंतपाल के जिम्मे सीमाओं की सुरक्षा और आयात के नियंत्रण के कार्य थे। अन्य पदाधिकारियों में पुरोहित, सेनापति, युवराज और अध्यक्ष थे जो राज्य के आर्थिक मामलों में राजा की सहायता करते थे। कृषि, व्यापार और वाणिज्य, तौल और माप, बुनाई और कताई जैसे दस्तकर्म, खनन इत्यादि को नियंत्रित और विनियमित करने जैसे कार्य उनके जिम्मे थे।

नगर प्रशासन

नगर प्रशासन तीस सदस्यों वाले आयोग के जिम्मे था। यह आयोग छह परिषदों में बंटा था और प्रत्येक परिषद में पाँच सदस्य थे। प्रत्येक परिषद का अपना आवंटित विभाग था। प्रथम परिषद उद्योगों और शिल्पों की देख-रेख करती थी, श्रम और पारिश्रमिक को विनियमित करती थी और सही सामग्री के उपयोग को सुनिश्चित करती थी। द्वितीय परिषद विदेशियों की देख-भाल और सुरक्षा के प्रबंध करती थी। समाहर्ता मूल्यांकन का सर्वोच्च पदाधिकारी होता था और कोष की देखभाल करता था।

तीसरी परिषद के जिम्मे जन्म और मृत्यु के पंजीयन का कार्य था। चौथी परिषद उत्पादों की बिक्री विनियमित करती थी, तौलों और मापों की देख-रेख और जांच करती थी, बेचे गये सामानों पर मुहर लगाती थी और वणिकों को अनुज्ञप्ति (लाइसेंस) जारी करती थी। पाँचवीं परिषद निर्मित सामानों की जाँच करती थी। और मिलावट जैसे गलत कार्य को रोकती थी। छठी परिषद बेचे गए सामानों पर कर वसूलती थी।

सेना

राजस्व का एक बड़ा हिस्सा सेना पर खर्च किया जाता था। एक विशाल सेना के रख-रखाव के फलस्वरूप सुदूर दक्षिण को छोड़कर लगभग संपूर्ण भारत का राजनीतिक एकीकरण हुआ। भारतीय परंपरा के अनुसार सेना के चार विभाग होते थे- हाथी, रथ, अश्वारोही और पदाति (पैदल सेना)। 'अर्थशास्त्र' बतलाता है कि दस्तों में दस, कंपनी में सौ और बटालियन में एक हजार लोग होते थे। राजा प्रधान सेनापति होता था और सेनापति सीधे उसके अधीन होता था। मेगास्थनीज के अनुसार सेना युद्ध-कार्यालय से नियंत्रित होती थी और इस कार्यालय में 30 सदस्य होते थे। ये 30 सदस्य भी छह परिषदों में बंटे थे और विभिन्न विभागों के प्रभारी थे। सेना की सफलता में मौर्यों की कूटनीति का बहुत महत्वपूर्ण योगदान था। अर्थशास्त्र में गुप्तचरों के नियोजन का उल्लेख हुआ है। ये गुप्तचर शत्रु पक्ष के लोगों को अपनी ओर मिलाने का काम करते थे और उनके सम्बन्ध में सूचनाएँ एकत्र करते थे। किसी दुर्ग पर कब्जा करने का सर्वोत्तम

तरीका था उसकी घेराबंदी कर उस पर आक्रमण करना। अर्थशास्त्र स्पष्ट तौर पर कूटनीति को बल प्रयोग पर तरजीह देता है।

गुप्तचरी

भारतीय साहित्य से हमें ज्ञात होता है कि राजा हमेशा गुप्तचर (चर अथवा गूढ़ पुरुष) रखता था। ये गुप्तचर तीन श्रेणियों के होते थे- उच्च, निम्न और मध्यम। विशेष अभिकर्ताओं अथवा समाचार लेखकों का नियोजन उनके उत्तम चरित्र के आधार पर होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गुप्तचरी के लिए महिला के नियोजन का भी उल्लेख मिलता है।

इसी वर्ग के सदृश एक अन्य वर्ग के पदाधिकारी, जो प्रतिवेदक कहलाते थे, स्वयं अशोक द्वारा नियोजित किए जाते थे जो जनसाधारण से जुड़े मामलों के प्रतिवेदन देने के लिए सर्वत्र पदस्थापित किए जाते थे और किसी समय आवश्यक सूचनाएँ उपलब्ध कराते थे।

विधि और न्याय

न्यायकरण के लिए ग्राम्य न्यायाधिकरण के अतिरिक्त न्यायालयों के दो प्रकार के समूह थे। ग्राम्य न्यायाधिकरण द्वारा ग्राम-प्रधान अथवा गुरुजनों के मार्ग-दर्शन में छोटे-मोटे मामलों का निपटारा किया जाता था। न्यायालयों के दो समूह धर्मास्थीय और कंटक-शोधन कहलाते थे। प्रथम प्रकार के न्यायालय व्यवहार न्यायालय थे जिनके प्रधान पवित्र-कानून के ज्ञाता तीन धर्मस्थ और तीन आमात्य होते थे और ऐसे न्यायालय सभी महत्त्वपूर्ण केन्द्रों में अवस्थित थे। वे विवाह, तलाक, विरासत, आवास, जलाधिकार, अतिक्रमण, कर्ज, निक्षेप (धरोहर), कृषि-दास, श्रम और अनुबंध, बिक्री, हिंसा, दुर्व्यवहार, प्रहार, जूआ, इत्यादि सम्बन्ध विवादों का निपटारा करते थे। दंड का विधान सावधानीपूर्वक किया जाता था और राजकीय प्राधिकारी उसे प्रयोग में लाते थे। इसमें अर्थदंड, कारावास, कोड़ों की मार और मृत्युदंड शामिल थे। जाति पंचायतें और संघीय न्यायालय भी थे जो समुदायों और पेशेवरों के मामले विनियमित करते थे और उनके आपसी विवाद सुलझाते थे।

कंटक-शोधन न्यायालयों के प्रधान तीन प्रादेशिक और तीन अमात्य होते थे। एक नए प्रकार के न्यायालय जटिल होती सामाजिक-आर्थिक संरचना की बढ़ती जरूरतों को पूरा करने के लिए गठित किए गए थे। ये वैसे सारे विषयों पर अत्यंत संगठित नौकरशाही के निर्णयों को कार्यान्वित करते थे जो उनके अधीन लाए जा रहे थे और जो पुरानी विधिक व्यवस्था के लिए अज्ञात थे। ये न्यायालय राज्य और जनता को समाज विरोधी व्यक्तियों अर्थात् समाज के कंटकों से बचाने के लिए गठित विशेष न्यायाधिकरण थे। ये एक ओर जहाँ सरकार और समाज को नई व्यवस्था की बुराइयों से सुरक्षा प्रदान करते थे वहीं दूसरी ओर नई व्यवस्था को विनियमित करने और नए नियमों एवं कानूनों को लागू करने वाले सशक्त माध्यम का भी काम करते थे।

इस न्यायिक व्यवस्था का निचोड़ था जनता पर नौकरशाही के नियंत्रण को मजबूत करना और निश्चय ही इससे अपराध में भारी कमी आई। राजा न्याय व्यवस्था में सर्वोपरि था। यूनानी लेखकों ने ऐसे न्यायाधीशों की भी चर्चा की है जो विदेशियों के मामले निपटाते थे। दंड-संहिता कठोर थी। यूनानी लेखकों के अनुसार, “चोरी की घटनाएँ शायद ही घटती थीं”। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि “आम जनता के लिए कोई लिखित कानून नहीं है और वह लिखना पढ़ना नहीं जानती, लेकिन स्मरण-शक्ति के बल पर ही सारे कार्य करती है”। झूठी गवाही देने पर अंगभंग कर दिया जाता था और कुछ अनिर्दिष्ट मामलों में अपराधी का मुंडन कर दिया जाता था। अपराध स्वीकार करवाने के लिए यातना देना भी स्वीकृत था और इसका उपयोग धड़ल्ले से किया जाता था।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मौर्यों के अधीन साम्राज्यिक संगठन, जैसा कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', अशोक के शिलालेख और अन्य स्रोतों से हमें ज्ञात होता है, बहुत उच्च कोटि का था। इस सुदृढ़ संगठन में शीर्ष पर राजा था जो अपरिमित शक्ति का अधिकारी था, उसके पास एक सुसंगठित सैन्य व्यवस्था थी, अपराध-नियंत्रण की सक्षम शासन-प्रणाली थी, राजस्व के नए स्रोत थे और श्रेणीबद्ध रूप में संगठित विशाल नौकरशाही थी और ये सब संयुक्त रूप से राजकीय सत्ता को सुदृढ़ता प्रदान करते थे।

न्यायिक प्रशासन के शीर्ष पर राजा था। वह राज्य का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय संगठित करता था। गाँवों में मामले ग्रामवृद्ध और नगरों में नगर व्यवहारिक महामात्रों द्वारा सुलझाए जाते थे। देहातों में रज्जुक होते थे जो आजकल के - जिला दंडाधिकारी के समकक्ष थे।

12.5.2 प्रांतीय प्रशासन

मौर्य साम्राज्य काफी लंबा-चौड़ा था, लेकिन अपने विशाल साम्राज्य के कुशल प्रशासन के लिए उसने विकेंद्रीकृत योजना अपनाई थी। संपूर्ण साम्राज्य चार प्रशासनिक विभागों में बांट दिया गया था। केंद्र था पाटलिपुत्र जिसका नेतृत्व स्वयं राजा करता था और मंत्री तथा परिषद इसमें उसकी सहायता करते थे। अन्य चार विभागों की राजधानियाँ इस प्रकार थी उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला, पश्चिम में उज्जैन, दक्षिण में सुवर्ण-गिरि और पूरब में तोसाली। इनका उल्लेख अशोक के शिलालेखों में हुआ है। प्रत्येक प्रशासनिक विभाजन वायसराय (कुमार अथवा आर्यपुत्र) के प्रभार में था जो सामान्यतः राजवंश का राजकुमार अथवा राजा या उच्च पदाधिकारी का कोई रिश्तेदार होता था। प्रांतीय प्रशासन का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है। फिर भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वायसराय का न्यायालय राजकीय न्यायालयों की लघु प्रतिकृति था। फर्क यही था कि मंत्रिपरिषद कभी-कभार वायसराय को दरकिनार करते हुए लोगों को प्रताड़ित कर सकती थी। जैसा कि बिंदुसार के समय में तक्षशिला में होता था। इसी आकस्मिकता को ध्यान में रखते हुए अशोक ने अपने अधिकारियों को कर्तव्य-निर्वाह में ईमानदारी बरतने का निर्देश दिया था।

वायसराय के अधीन विभाजनों को भी प्रांतों में बांट दिया जाता था। इसके प्रभारी प्रादेशिक होते थे। जैसा कि अशोक के शिलालेखों और 150 ई. में रुद्रदमन I के जूनागढ़ के शिलालेख से पता चलता है। गिरनार एक ऐसा ही प्रांत था जो चंद्रगुप्त के समय में पुष्पगुप्त और अशोक के समय राजा तुशाष्प के द्वारा शासित था।

12.5.3 स्थानीय प्रशासन

प्रांतों का एक और विभाजन जिला और तहसील के बराबर छोटे-छोटे क्षेत्रों में किया जाता था जिसमें 100 गांव सिंहासनिक और 5 से 10 गाँव गोप के अधीन होते थे। प्रत्येक के अपने-अपने कर्मचारी गण थे जिन्हें युक्त और रज्जुक कहते थे। उनके जिम्मे अपने-अपने क्षेत्रों में राजस्व वसूली और सामान्य प्रशासन के कार्य थे। वास्तव में वे जनता और सरकार के बीच की कड़ी थे और अंतिम रूप से समाहर्ता अथवा मुख्य संग्राहक के अधीन थे।

प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गांव थे जिन्हें अर्द्ध-स्वायत्त सत्ता प्राप्त थी। वे प्रतिरक्षा, अनुशासन, कृषि, राजस्व भुगतान, भूमि और जल पर अधिकार इत्यादि के मामले स्वयं तय करते थे और इसके लिए ग्रामणी नियुक्त करते थे। ग्रामणी का चुनाव गांव के गुरुजनों के बीच में से होता था और वह गाँवों में पैदा होनेवाले छोटे-छोटे विवादों को निपटाने में सरकारी पदाधिकारियों की सहायता करते थे। कृषि योग्य भूमि तो व्यक्तिगत रूप से लोगों के पास होती थी, लेकिन चारागाहों और जंगलों पर सामूहिक अधिकार होता था।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मौर्यों के अधीन साम्राज्यिक संगठन, जैसा कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', अशोक के शिलालेख और अन्य स्रोतों से हमें ज्ञात होता है, बहुत उच्च कोटि का था। इस सुदृढ़ संगठन में शीर्ष पर राजा था जो अपरिमित शक्ति का अधिकारी था, उसके पास एक सुसंगठित सैन्य व्यवस्था थी, अपराध-नियंत्रण की सक्षम शासन-प्रणाली थी, राजस्व के नए स्रोत थे और श्रेणीबद्ध रूप में संगठित विशाल नौकरशाही थी और ये सब संयुक्त रूप से राजकीय सत्ता को सुदृढ़ता प्रदान करते थे।

प्रगति जाँच अभ्यास 4

क. रिक्त स्थान भरें।

- (i) मौर्य प्रशासनिक व्यवस्था के शीर्ष पर था।
- (ii) मूल्यांकन का सर्वोच्च पदाधिकारी होता था और कोष की देखभाल करता था।
- (iii) धर्मास्थीय न्यायालय न्यायालय थे जिनके प्रधान पवित्र-क्रानून के ज्ञाता तीन धर्मस्थ और तीन आमाल्य होते थे और ऐसे न्यायालय सभी महत्वपूर्ण केन्द्रों में अवस्थित थे।
- (iv) न्यायालय राज्य और जनता को समाज विरोधी व्यक्तियों अर्थात् समाज के कंटकों से बचाने के लिए गठित विशेष न्यायाधिकरण थे।
- (v) वायसराय के अधीन विभाजनों को भी प्रांतों में बांट दिया जाता था जिसके प्रभारी होते थे।

12.6 मौर्यकालीन भारत का सामाजिक-आर्थिक ढांचा

12.6.1 मौर्य अर्थव्यवस्था

ईसा के 800 वर्ष पूर्व मध्यदेश (उत्तर प्रदेश और बिहार) में लोहे की खोज और इसकी प्रौद्योगिकी के आगमन ने भारत की अर्थव्यवस्था में क्रांति ला दी। ताम्र-पाषाण काल में सिन्धु घाटी में कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था के प्रयोग को छोड़कर शेष भारत नवपाषाणीय पशुचारी-सह-कृषि आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था के दौर से गुजर रहा था। नवपाषाण युग से धातु युग में संक्रमण और इसके पशुचारी से कृषिक अर्थव्यवस्था के परिणाम को लोहे की खोज और उपयोग से गति मिली। यह क्रांति मध्यदेश में घटित हुई। इसने तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को गहरे रूप से प्रभावित किया और इसकी चरम परिणति मगध और मौर्य साम्राज्य में हुई। लोहे के उपयोग से जंगलों की सफाई आसान हो गई और गहरी जुताई के फलस्वरूप गंगा-जमुना की घाटी की उर्वरता में भारी वृद्धि हुई। कृषि में तेजी आने से अतिरिक्त खाद्य सामग्री में इजाफा और इसका निर्यात आवश्यक हो गया। गंगा के प्राकृतिक जलमार्ग ने इस निर्यात को सुविधाजनक बना दिया। इसके परिणामस्वरूप व्यापार और वाणिज्य को बढ़ावा मिला और नगरों का क्रमिक विकास होने लगा। श्रावस्ती, साकेत, वाराणसी, चंपा, राजगृह, उज्जैन जैसे प्रसिद्ध नगर के बाजारों व चौराहों के इर्दगिर्द विकसित हुए। कच्चे माल की उपलब्धता और दस्तकारियों की बिक्री के लिए तैयार बाजार ने दूर-दूर से शिल्पकारों को अपनी ओर आकर्षित किया। बाजारों के सुदृढ़ीकरण के फलस्वरूप नगरों की संख्या में भारी वृद्धि हुई और वे धन के भंडार घर बन गए। इन प्रसिद्ध नगरों ने उद्यमशील लोगों को इस कदर आकर्षित किया कि वे सोलह महाजनपदों की परंपरागत सूची में वर्णित छठी सदी ईसा पूर्व के प्रसिद्ध राज्य बन गए। व्यापार, वाणिज्य और शिल्प के ये केंद्र व्यापार-मार्गों से जुड़ गए। चंपा राजगृह होकर वाराणसी और वहाँ से तक्षशिला से जुड़ गया। दूसरा व्यापार-मार्ग वाराणसी को साकेत और अयोध्या होकर श्रावस्ती तक जाता था। तीसरे मार्ग ने कौशांबी से होकर वाराणसी को उज्जैन से जोड़ दिया और चौथे ने उत्तरी केन्द्रों को उज्जैन से होकर दक्कन से जोड़ा। सौदागर स्वर्णभूमि (बर्मा में अराकान), ताम्रपर्णी (श्रीलंका) और

पूर्वी भारत के अन्य द्वीपों तक जाने लगे और तक्षशिला सांस्कृतिक केंद्र के साथ-साथ भारतीय मालों का मध्य और पश्चिमी एशिया तथा उससे भी आगे पश्चिम अफ्रीका और यूरोप तक का वितरण केंद्र बन गया। ऐसे में आश्चर्य नहीं कि बढ़ते व्यापार और फैलती कृषिक अर्थव्यवस्था के कारण क्रमिक नगरीकरण ने मौर्यों की साम्राज्यिक राजव्यवस्था को जन्म दिया।

उस समय तक भारतीय कृषि की दृष्टि से सिंचाई का महत्व प्रतिष्ठापित हो चुका था। कुछ क्षेत्रों में सिंचाई के लिए जल का वितरण और मापन किया जाता था। अर्थशास्त्र में ऐसे जल-कर की चर्चा है जो राज्य द्वारा सिंचाई सुविधा प्रदान करने पर नियंत्रित रूप से वसूला जाता था। चन्द्रगुप्त के एक शासक ने पश्चिम भारत में गिरनार के निकट एक नदी पर पुल बनवाया था। जलाशयों, कुंडों, नहरों और कुँओं का निर्माण और रख-रखाव सरकार के कार्यों में शामिल था।

उपमहाद्वीप के राजनीतिक एकीकरण का एक अन्य उल्लेखनीय परिणाम यह भी था कि एक स्थायी और केंद्रीकृत सरकार अनेक प्रकार के व्यापारों, शिल्पों और शिल्प संघों के विस्तार को संरक्षण प्रदान करती थी। कवचों, पोतों इत्यादि के निर्माता शिल्पियों को तो राज्य सीधे तौर पर नियोजित करता था। ऐसे शिल्पी कर मुक्त होते थे लेकिन राज्य के कार्यशाला-कर्मियों को कर देना पड़ता था।

सभी निर्मित वस्तुओं पर कर लगाया जाता था और उन पर तिथि अंकित की जाती थी। सौदागरी के मालों की कड़ी जांच-पड़ताल होती थी। मालों के मूल्य-निर्धारण के पूर्व वाणिज्य अधीक्षक वर्तमान कीमत, मांग और आपूर्ति तथा उत्पादन की लागत पर गंभीरता से विचार करता था।

12.6.2 मौर्यकालीन सामाजिक संगठन

मौर्य काल में सामाजिक संगठन का स्वरूप तो वही रहा जो उत्तर वैदिक काल में था, लेकिन इतना फर्क अवश्य पड़ा कि हर जाति के कर्तव्यों में और जकड़बंदी आ गई। मिली-जुली जातियों के फलस्वरूप जातियों की संख्या बढ़ गई और नए आर्थिक समुदाय कायम हो गए जैसा कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र बतलाता है। उसके अनुसार ब्राह्मणों के छः कर्तव्य हैं: अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ (पूजा-पाठ करना), पुरोहिती (पूजा-पाठ करवाना), दान देना और दान स्वीकार करना।

समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। राज्य और समाज में सर्वोच्च पदों- शिक्षक, पुरोहित, न्यायाधीश, प्रधानमंत्री, कर-निर्धारक, धर्म परिषद का सदस्य, प्रशासन में स्थायी विधिक आयोगों के सदस्य इत्यादि पदों पर वे ही आसीन होते थे। कानूनन वे दंड के भागी तो थे किंतु उन्हें प्राणदंड नहीं दिया जा सकता था। यदि कोई ब्राह्मण भोजन और दान ग्रहण के सम्बन्ध में प्रतिबंधों का उल्लंघन करता था अथवा अपनी जीविका के लिए निषिद्ध निम्न पेशों को अपनाता था तो उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता था। लेकिन वास्तविक जीवन में, विशेषकर दुर्दिन में, वह उन पेशों को अपना सकता था जो सैद्धांतिक तौर पर उसके लिए निर्धारित नहीं थे। यह नियम अन्य जातियों पर भी लागू होता था।

क्षत्रियों के कर्तव्य थे: अध्ययन, यज्ञ, दान, शस्त्र जीविता और भूत-रक्षण (प्राणियों की रक्षा)। वैश्यों के विहित कार्य थे: अध्ययन, यज्ञ, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य और शूद्रों का कार्य द्विज जातियों की सेवा करना था। जैसे- व्रत (संपत्ति उत्पादन में सहयोग), कारुकर्म (कला) और कुसिल्व कर्म (शिल्प)। तीन उच्चतर जातियों के सामान्य कार्य थे- अध्ययन, पूजा और दान देना। शूद्रों के लिए सारे संस्कार वर्जित थे। उन्हें सुविधाएँ तो नाम मात्र की थी, लेकिन बंधन अनेक थे।

यह सामाजिक स्तरीकरण तभी तक कायम रह सकता था जब तक समाज ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर आधारित था। नगरीकरण के आगमन और कृषि अर्थव्यवस्था में क्रांति के साथ स्थिति बदल गई। धन-संग्रह उन व्यापारियों,

दस्तकारों और शिल्पकारों के पास होने लगा जो अधिकांशतः वैश्य और शूद्र वर्ग के थे। समाज में इनकी स्थिति सम्मानजनक हो गई। उन्होंने शिल्पी-संघ बना लिए जो उनके सारे मामलों को विनियमित करते थे। इससे जातिगत पंचायतों पर उनकी निर्भरता में कमी आई। अपने-अपने शिल्पी संघों के निर्माण के फलस्वरूप वे सामाजिक अलगाव के भय से मुक्त हो गए। सामुदायिक एकता के आधार पर उनकी बढ़ती समृद्धि से उनके और समाज के दो उच्चतर वर्गों के बीच तनाव को बढ़ावा मिला। व्यापार, कलाओं और शिल्पों पर आधारित संघों और निगमों का उदय इतने व्यापक पैमाने पर हुआ कि मेगास्थनीज ने जाति को पेशा अथवा व्यवसाय से जोड़कर देखा। उसने भारत की संपूर्ण आबादी को सात वर्गों या जातियों में विभक्त माना। ये हैं: दार्शनिक, खेतिहर, पशुपालक, दस्तकर्मी, सैनिक, गुप्तचर और पार्षद अथवा कर-निर्धारक। वह लिखता है कि किसी को भी अपनी जाति से बाहर विवाह करने की अनुमति नहीं है, कोई भी अपने पेशे अथवा व्यापार को बदल ही नहीं सकता और न एक से अधिक रोजगार कर सकता है। उसने जातियों और सात वर्गों में उनके विभाजन के बारे में जो कुछ सुना उसी पर अपनी टिप्पणियाँ प्रस्तुत की दीं। इससे स्पष्ट है कि जाति-प्रथा के सम्बन्ध में सिद्धांत और व्यवहार में चौड़ी खाई बन गई। यह उलझन संभवतः कतिपय उदारीकरण की प्रक्रियाओं के कारण नगर-आधारित ही हो सकती थी। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में जाति-प्रथा अपेक्षाकृत कठोर एवं यथावत बनी रही। वहाँ घृणास्पद भेद-भाव जारी रहा और अस्पृश्य (निर्वासित शूद्र) पैदा होते रहे।

दास-प्रथा, जिसे मेगास्थनीज भारत में कभी नहीं सुन पाया, पूरी तरह जारी था। हालांकि दासों के साथ जो सलूक पाश्चात्य जगत में किया जाता था उससे भारत की स्थिति काफी भिन्न थी। वे समाज से बहिष्कृत नहीं थे। इसके विपरीत वे घरेलू कार्यों में नियोजित किए जाते थे। उनसे उत्पादन कार्य में जोर-जबरदस्ती नहीं की जाती थी। कुछ विशेष परिस्थितियों में वे स्वतंत्र भी हो सकते थे। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी दास कन्या को अपने स्वामी से पुत्र पैदा होता था तो वह स्वतः स्वतंत्र हो जाती थी। अशोक ने अपने आदेश पत्रों में लगातार लोगों को अपने दासों और भृत्यों के प्रति सहृदय और विवेकपूर्ण होने को कहा और अपने धर्म महामात्रों को विशेष रूप से उनके कष्टों को कम करने के लिए कार्य करने का आदेश दिया।

अशोक ने प्रजा जन को यह भी सीख दी कि वे न तो अनावश्यक धन-संग्रह में संलग्न रहें और न अपव्ययी बनें। इस प्रकार वह देश में मुद्रास्फीति की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण बनाए रखने में सफल हुआ। ऐसा करना आवश्यक भी था क्योंकि उत्पादन बढ़ रहा था और देश में बाहर से धन का आगमन जारी था। इनके साथ ही वह व्यापार और वाणिज्य को बढ़ावा देने के लिए गुप्त धन को भी बाहर ले आया।

12.6.3 मौर्य राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज के बीच संबंध

मौर्यों की शासन-व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और समाज के बीच संबंध, मौर्यों की अर्थव्यवस्था और उनके समाज का ढांचा उनकी राजनीतिक प्रणाली से काफी प्रभावित हुई। देश को सुरक्षित रखने के लिए ऐसी विशाल सेना और प्रशासन को चलाने के लिए इतनी विशालकाय नौकरशाही को प्राचीन भारत में किसी राज्य ने संपोषित नहीं किया था जैसा कि मौर्यों ने किया। इसके अतिरिक्त आपदा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वे राजकोष में अतिरिक्त राशि भी रखते थे।

इतना भारी व्यय सामान्य कराधान से संभव ही नहीं था। अतः आय का लाभप्रद स्रोत प्राप्त करने के लिए मौर्यों के राज्य के लिए विविध आर्थिक क्रियाकलापों का श्रीगणेश करना और उन्हें विनियमित करना अत्यावश्यक था। इसके लिए मौर्यों ने संपूर्ण आर्थिक गतिविधियों के राज्य द्वारा नियंत्रण की नीति अपनाई। इसमें कृषि, उद्योग, व्यापार एवं यातायात तथा जनता पर सारे संभावित करों के आरोपण शामिल थे।

12.6.4 मौर्यों की सामाजिक-कृषिक नीति

मौर्यों ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास पर विशेष ध्यान दिया। इसके लिए उन्होंने दोहरी नीति अपनाई। एक ओर जहाँ उन्होंने नए कृषक अधिवासों की स्थापना की वहीं दूसरी ओर अतिरिक्त अधिवासियों को नए स्थानों पर स्थानांतरित करने उनके विकास में सहायता पहुँचाई। कृषि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए उन नए अधिवासों में उन शूद्रों को खेतिहर के रूप में बसने की अनुमति दी जो तीन उच्चतर वर्गों की सामूहिक संपत्ति बने हुए थे और उनके दास और भाड़े के श्रमिक के रूप में काम कर रहे थे। परती जमीन को कृषि योग्य बनाने के लिए उन्हें राज्य की ओर अनेक प्रकार की मदद दी गई जैसे-करों में छूट, पशुधन की आपूर्ति, आत्म-निर्भर होने तक की शर्त पर बीज और मुद्रा की अदायगी इत्यादि। दूसरी ओर नए अधिवासों में सेवानिवृत्त ग्राम्य अधिकारियों और पुरोहितों को बिना स्वामित्व का अधिकार दिए जमीनें दी गई। इसके अतिरिक्त जो कृषक अपनी जमीन को जोत-कोड़ नहीं सकता था उसे उससे लेकर उसको दे दिया जाता था जो सही ढंग से उसका उपयोग कर सके। साधारण किसानों को अपने भूमि-खंडों को कर नहीं चुकाने वाले किसानों को हस्तांतरित करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। और अंतिम बात यही थी कि राज्य के फार्म राज्य की आय के महत्वपूर्ण स्रोत थे। इनकी व्यवस्था कृषि-अधीक्षक के द्वारा की जाती थी और दास तथा भाड़े के श्रमिक उन्हें जोतते-कोड़ते थे। राज्य जलापूर्ति की व्यवस्था करता था और कृषकों को सिंचाई की सुविधा प्रदान करता था। इस प्रकार संगठित श्रम और समुचित सिंचाई की सुविधाओं की मदद से गंगा की घाटी का एक बड़ा भाग कृषि-क्षेत्र के अंतर्गत लाया गया।

12.6.5 व्यापार और उद्योग

मौर्य साम्राज्य अनेक अधीक्षकों की मदद से व्यापार और उद्योग को व्यवस्थित करता था। वाणिज्य अधीक्षक बाजार का प्रभारी था, तौलों और मापों का अधीक्षक सही तौल और माप को सुनिश्चित करता था, पोतों का अधीक्षक जल परिवहन की देख-रेख करता और आवागमन का शुल्क वसूलता था, कर अधीक्षक आंतरिक और बाहरी वाणिज्य की वस्तुओं पर सीमा-शुल्क वसूलता था, बुनाई का अधीक्षक बुनाई उद्योग- जो मुख्य रूप से महिला श्रमिकों द्वारा संचालित होता था- की देख-रेख करता था और मद्य अधीक्षक राज्य के शराब की दुकानों को संभालता था। नमक और मद्य के व्यापार पर राज्य का पूर्ण एकाधिकार था।

खनन और धातु-कर्म मौर्यों की राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के आधार थे। इसकी देख-रेख खनन और धातु कर्म के विशेषज्ञ अधीक्षक द्वारा होती थी। वह पुरानी खानों को विकसित करता और नई खानों का पता लगाता था। सोना, चांदी, तांबा, शीशा, टिन और डामर के अयस्कों पर काम किए जाते थे। साहित्यिक साक्ष्यों से पता चलता है कि लोहे का काम अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक खर्चीला था। लौह-कर्म का प्रभारी पदाधिकारी लौहाध्यक्ष होता था। खनिजों के उत्पादन और खनन व्यापार पर राज्य एकाधिकार था। इस प्रकार, धातु और खनन मौर्यों की राज्य-नीति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक थे। कौटिल्य बतलाता है कि खनन से कोषागार बनता है, ताकत कोषागार में निहित होती है और धरती कोषागार एवं ताकत से प्राप्त की जाती है।

12.6.6 कर प्रणाली

आर्थिक उद्यमों से प्राप्त आय के अतिरिक्त राज्य अनेक पारंपरिक और नए प्रकार के कर लगाता था। किसानों द्वारा किए गए उत्पादन का 16 राजकीय हिस्सा मुख्य कर था। राज्य बटाईदारों, जो राज्य से भूमि और कृषि-संबंधी निवेश प्राप्त करते थे, से भी एक चौथाई और कभी-कभी आधा हिस्सा प्राप्त करता था। पिंड कर नामक एक अन्य कर भी किसानों को चुकाना पड़ता था। यह कर गांवों के समूहों से वसूला जाता था। पुराना वैदिक कर 'बलि' अब धार्मिक कर

माना जाता है। फल और फूल के उद्यानों से कर प्राप्त किया जाता था। जब सेना किसी गांवों से गुजरती थी तो उसके लिए रसद की आपूर्ति के रूप में ग्रामीणों से 'सेनाभक्त' नामक कर लिया जाता था। नकद भुगतान को 'हिरण्य' कहा जाता था। किसानों को सिंचाई कर भी देना पड़ता था।

सीमा-शुल्क और घाट-कर भी लगते थे। शहरी दस्तकारों के संघों पर भी कर लगते थे। इतने सारे कर भी राज्य के बढ़ते खर्च के लिए पर्याप्त नहीं पड़ते थे इसलिए अर्थशास्त्र 'आपदा-प्रबंधन करों' का प्रावधान करता है। 'प्रणय' अथवा स्नेह-उपहार ऐसा ही कर था जो किसानों पर एक बार लगाया जाता था और जो उनके उत्पाद का तिहाई अथवा चौथाई के बराबर होता था। 'अर्थशास्त्र' ने खेतिहरों द्वारा दूसरी फसल उगाने को भी अनिवार्य बनाया। इसका एक हिस्सा राज्य को दिया जाता था। पतंजलि और कौटिल्य के अनुसार, मौर्य सम्राट पूजा के लिए देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित कर भी मुद्रा संग्रह करते थे। जैन परंपरा से संकेत मिलता है कि कौटिल्य ने 800 मिलियन कर्षण निर्गत किए अर्थात् उसने कोषागार को भरने के लिए चांदी के छोटे सिक्के निर्गत किए। इन सारे आपदा-प्रबंधनों से मौर्य राज्य की आय में बेतहाशा वृद्धि हुई। सामान्यतः मौर्य राज्य की आधी आय कोषागार में आपदा-प्रबंधन के लिए जमा की जाती थी।

इस प्रकार मौर्यों की पूरी अर्थव्यवस्था राज्य की वित्तीय आवश्यकताओं के अनुकूल थी। इनमें से अधिकांश कर माल के रूप में वसूले जाते थे। टकसालों के अधीक्षक के कर्तव्यों के स्वरूप से ऐसा प्रतीत होता था कि मौर्य शासन में मौद्रिक अर्थव्यवस्था में भारी प्रगति हुई। लेकिन यह भी उल्लेखनीय है कि मौर्यों की आधी राशि को उत्पादक कार्यों में लगाने के बदले कोषागार में जमा करने की नीति से मौद्रिक अर्थव्यवस्था की प्रगति में रुकावटें भी आईं। इसके अतिरिक्त, सभी प्रकार की जिंसों पर करारोपण से भी मौद्रिक अर्थव्यवस्था की प्रगति बाधित हुई।

इन सीमाओं के बावजूद, मौर्य युग में कृषि और खनन उद्योग में भारी विस्तार के कारण उल्लेखनीय आर्थिक प्रगति हुई। यातायात और परिवहन में विकास से व्यापार और वाणिज्य के विस्तार में मदद मिली।

प्रगति जाँच अभ्यास 5

क. मौर्य काल के दौरान आए सामाजिक-आर्थिक बदलावों की संक्षिप्त सूची तैयार करें।

12.7 मौर्य कला और स्थापत्य

प्राचीन भारत में कला का इतिहास वास्तव में अशोक के शासन-काल से ही प्रारंभ होता है। सिन्धु घाटी की सभ्यता में हम जो भी पाते हैं वह इक्का-दुक्का रूप में ही है और उसमें निरंतरता का अभाव है। मौर्य काल में हम पहली बार पत्थर, शैल और ईंट जैसी स्थायी सामग्रियों में निर्मित भवन और संरचनाएँ पाते हैं। वैदिक और उत्तर वैदिक काल में इमारतें अस्थायी सामग्रियों से बनती थीं। पहली बार अशोक ने ही भवन-निर्माण में काष्ठ के बदले पत्थर का उपयोग किया। अस्थायी सामग्री से स्थायी सामग्री का यह बदलाव सम्राट की आकांक्षा का ही परिणाम था। उसके संरक्षण में भारतीय कला के क्षेत्र में भारी प्रगति हुई। ईसा के लगभग 2500 वर्ष पूर्व से 250 वर्ष पूर्व तक की अवधि काफी लंबी अवधि है और उस अवधि की कलात्मक अभिव्यक्ति का शायद ही कोई रेकॉर्ड हमारे पास मौजूद है। उस समय का स्थापत्य मुख्य रूप से काष्ठ-आधारित था और इसीलिए उसका कोई चिह्न शेष नहीं रह गया है।

12.7.1 स्थापत्य

अशोक एक महान निर्माता था। एक जनश्रुति के अनुसार उसने तीन वर्षों के भीतर चार हजार स्तूप खड़े किए। इससे सिद्ध होता है कि मौर्यों की स्थापत्य संबंधी उपलब्धियों की संख्या, विस्तार और अनन्यता ने लोक कल्पना पर कितनी गहरी छाप छोड़ी है।

मौर्य कालीन स्थापत्य को सुविधा की दृष्टि से तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं:

- (i) राजप्रासादों के अवशेष
- (ii) स्तूपों के अवशेष
- (iii) शैल काट कर बनाई गई गुफाएँ

(i) राजप्रासादों के अवशेष

मेगास्थनीज ने मौर्यों के राजप्रासाद, जहाँ राजा रहता था, का विस्तृत विवरण दिया है। यह भव्य तथा अपनी कलात्मक उत्कृष्टता के लिए प्रसिद्ध था। मेगास्थनीज के अनुसार, संपूर्ण राजप्रासाद काष्ठ निर्मित था और भव्यता एवं वैभव में सूसा और अल्बातना के राजप्रासादों से बेहतर था। इसकी संरचना इतनी शानदार थी कि लोग इसे अलौकिक अभिकरण द्वारा निर्मित मानते थे।

फाहियान, जो गुप्तकाल में भारत आया था, इस राजप्रासाद की कारीगरी और सम्मोहक बनावट को देखकर इतना प्रभावित हुआ कि उसे यह मानव प्राणी के बदले देवताओं का काम लगा। पाटलिपुत्र नगर के बीच में राजप्रासाद और बड़े-बड़े कक्ष और इसके तमाम अवशेष अब भी कायम हैं।

कौशांबी और अन्य स्थानों के प्रतिष्ठानों तथा राजा के प्रतिनिधि-शासक के रूप में कार्य कर रहे कुमारों के लिए भी ऐसे ही निवास बनाए गए होंगे। पटना के निकट कुम्हार और बुलंदी बाग की खुदाइयों से ऐसे राजप्रासाद के अवशेष पाए गए हैं। विशाल आकार वाले स्तंभों, खासकर ऊंचे स्तंभों से निर्मित कक्ष के अवशेष पाए गए हैं। इस प्रकार, मेगास्थनीज और फाहियान के वृत्तांत पुरातात्विक साक्ष्यों से संपुष्ट होते हैं।

(ii) स्तूपों के अवशेष

स्तूप में बुद्ध अथवा किसी अन्य संत के अवशेष मंजूषा में रखे जाते थे अथवा बौद्ध मठ के इतिहास में किसी प्रसिद्ध घटना के कोई उल्लेखनीय दृश्य को संजोया जाता था। आमतौर पर किसी बौद्ध-भिक्षु के सम्मान में कोई स्तूप खड़ा किया जाता था। स्तूपों का आरंभ वैदिक और उत्तर वैदिक काल की चिताओं में पाया जाता है। उनके निर्माण का उद्देश्य मिस्र के पिरामिडों के निर्माण से मिलता-जुलता है। हो सकता है कि पिरामिडों के स्थापत्य और अभिकल्प ने इन स्तूपों को प्रभावित किया होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विशाल ईंटों वाले स्तूप भारत में अशोक के बाद तभी बने जब सिंध और पश्चिमी पंजाब सौ वर्षों तक फारसी अधिकार में थे और जब मिस्र भी फारस का एक प्रांत था। इसलिए, संभव है कि स्तूपों का स्थापत्य अशोक के अन्य कलापूर्ण स्मारकों के समान फारसी कला से प्रभावित हुआ होगा।

स्तूप ईंट अथवा पत्थर से निर्मित अर्द्ध-गोलाकार होते थे और ऐसे चबूतरे पर खड़े किए जाते थे जिन पर उपासक चक्कर लगा सकें। उनका शीर्ष सपाट होता था और उस पर एक वर्गाकार वेदीनुमा संरचना होती थी जो एक के ऊपर दूसरी पत्थर वाली छतरियों से आच्छादित होती थी। उसका तल पत्थर के जंगले (रेलिंग) से घिरा होता था। कभी-कभी जंगले से होकर प्रवेशद्वार अलंकृत तोरणों से सजाए जाते थे।

जैसा कि दिव्यवदान में वर्णित है, अशोक ने अपने पूरे साम्राज्य में कुल चौरासी हजार स्तूप बनवाए। ह्वेनसांग, जिसने भारत के विभिन्न भागों की यात्राएं की, इन स्तूपों का उत्तरी भारत के अफगानिस्तान, सारनाथ, सांची और तक्षशिला में, पूर्वी भारत में ताम्रप्रलिप्ति और पुद्रवर्धन में और दक्षिण भारत के कांची में निरीक्षण किया। अब हम मौर्य काल में खड़े किए गए स्तूपों की चर्चा करेंगे।

भारहुत का स्तूप

यह स्तूप इलाहाबाद से लगभग पंचानबे मील दक्षिण-पश्चिम बघेलखंड के नागौड़ राज्य के भारहुत गांव में है। यह लगभग 68 फीट व्यास वाला मध्यम आकार के ईंट से बना स्तूप है जो अनेक समर्पणात्मक अभिलेखों वाले भारी नक्काशीदार जंगलों से घिरा हुआ है। स्तूप पूरी तरह विलुप्त हो चुका है और इसकी ढेर-सारी प्रतिमाएँ मुख्य रूप से बौद्ध जातकों (जन्म-कथाओं) से संबंधित हैं। सांची के समान इसके भवन विभिन्न स्तरों वाले थे और स्तूप स्वयं अशोक के समय का था जबकि इसका एक प्रवेश-द्वार शुंग काल का।

कमोबेश ऐसे ही जंगले, जिसके टुकड़े बोधगया में पाए जाते हैं, 'अशोक रेलिंग' के नाम से जाने जाते हैं। लेकिन वास्तव में भारहुत के प्रवेशद्वार के समान ही वे शुंगकाल के हैं।

सारनाथ का स्तूप

सारनाथ का धर्मराजिक स्तूप संभवतः अशोक के समय में खड़ा किया गया। इसमें हम सिर्फ आधार की योजना पाते हैं। इसके जंगलों पर मौर्य पॉलिश अभी भी दृष्टिगोचर होता है। यह स्तूप ऐसे स्थान पर खड़ा किया गया जहाँ बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश अपने पाँच ब्राह्मण साथियों को दिया था।

सांची का स्तूप

सांची का मुख्य स्तूप, जो भोपाल में 25 मील दूर एक पहाड़ी के शिखर पर खड़ा है, लाल बलुआ पत्थर से निर्मित है। इसका व्यास 121 फीट और कुल ऊँचाई 77 फीट है। यह चारों दिशाओं में चार द्वारों वाले भारी-भरकम सादे पत्थर के जंगलों से घिरा है। द्वारों की ऊँचाई 34 फीट है और उन पर अनेक उभार वाली मूर्तियाँ हैं। जंगले भी मूर्तियों से ढंके हैं जिन पर या तो बुद्ध के जीवन के दृश्य हैं अथवा उनके अनुश्रुत अतीत जीवन की घटनाएँ। कला मुख्यतः लोक कला आधारित है जिसमें प्रकृति की गहन संवेदना उभरी है। यह स्तूप अशोक के काल में महत्त्वपूर्ण स्मारकों में एक है। पास-पड़ोस के स्तूप कमोबेश समान रूप के हैं।

(iii) शैल काट कर बनाई गई गुफाएँ

भारतीय कला के इतिहास में गुफाओं की वास्तुकला की दृष्टि से भी अशोक का काल उल्लेखनीय है। मौर्य-काल के सात शैल काट कर बनाई गई गुफाएँ मिलती हैं। इनमें चार गया जिले के बराबर की पहाड़ी पर पाए जाते हैं। ये सारी गुफाएँ आजीवक संप्रदाय के मठवासियों के निवास के लिए खोदी गई थीं और ये वर्षाकाल में आश्रय-स्थल का काम करती थीं। ऐसे कार्य पर भारी लागत आई होगी और आजीवकों पर कोषागार से इतना भारी खर्च उसकी प्रभावीशाली स्थिति का द्योतक तो है ही, अशोक की उदार प्रवृत्ति का भी सूचक है, क्योंकि आजीवक अतिशय भाग्यवादी थे और बौद्धों से उनकी कोई समानता नहीं थी। तीन अन्य गुफाएँ नागार्जुनी पहाड़ी पर पाई जाती हैं। ये गुफाएँ भी अशोक के पौत्र देवानामप्रिय दशरथ द्वारा आजीवक संप्रदाय के मठवासियों को समर्पित थीं।

शिला को काट कर बनाई गई ये गुफाएँ दो कारणों से महत्त्वपूर्ण हैं। पहला, वे पत्थर के कटाव वाली वास्तुकला में भवनों के प्रथम उदाहरण है, और दूसरा, ये पूर्व के काष्ठ-निर्मित भवनों के हूबहू अनुकरण हैं। इन विशाल शैलों को

आवासीय स्थानों का रूप देने में आने वाली लागत, श्रम और कुशलता वास्तव में विस्मयकारी हैं। इन गुफाओं के अंदरूनी हिस्से काफी परिष्कृत हैं। इससे स्पष्ट है कि अशोक के युग में गुफा की वास्तुकला कारीगरी और उत्कृष्टता की नई ऊंचाइयाँ छू चुकी थी।

15.7.2 मूर्तिकला

मौर्य काल की मूर्ति कला न सिर्फ भारत के इतिहास में अपितु अपनी कारीगरी, सौंदर्य और कलात्मक भव्यता के कारण विश्व की मूर्तिकला में भी विशिष्ट स्थान रखती है। इस वर्ग की कला में हम सर्वप्रथम अशोक के स्तंभों की चर्चा करेंगे क्योंकि वे स्वतंत्र रूप से खड़े हैं और उन पर हम पशुओं की मूर्तियाँ पाते हैं और उन्हें मूर्तिकला कृतियों में शामिल किया जा सकता है।

स्तंभ

अशोक को भारी संख्या में और भव्य पैमाने पर अभिकल्पित उत्कीर्ण और अनुत्कीर्ण एकल प्रस्तरीय स्तंभों को खड़ा करने में भारी प्रसन्नता होती थी। अब तक उसके द्वारा निर्मित तीस स्तंभ मिले हैं। द्वेनसांग उनमें सोलह का उल्लेख विशेष रूप से करता है। उनमें चार या पांच तो निश्चित रूप से वर्तमान हैं लेकिन वर्तमान स्तंभों में से अधिकांश का उल्लेख चीनी पर्यटक के द्वारा नहीं हुआ है। ये स्तंभ बाखिरा, लौरिया-नंदनगढ़, रामपूर्वा, साँची, सारनाथ, कौशांबी और इलाहाबाद में पाए गए हैं। उल्लेखनीय है कि ये स्तंभ गंगा के उत्तरी किनारे से नेपाल की सीमा तक बड़े भूभाग में फैले हैं और सभी बौद्ध धर्म से जुड़े स्थानों पर खड़े किए गए हैं। एक मौर्य स्तंभ बल्ले का बना हुआ है और उसका शीर्ष आच्छादित है। यह बल्ला सादा और वृत्ताकार है और इसके ऊपर छोटी सी एकल प्रस्तरीय मोमबत्ती है। बल्ले के ऊपर शीर्ष किसी अन्य प्रस्तरीय अंश का बना है और तांबे की मेख के द्वारा बल्ले के शिखर से जुड़ा हुआ है। शीर्ष पर उलटे कमल का अभिकल्प, गिनतारा (abacus) और पशुओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। बल्ले और शीर्ष की सतह पर मौर्यकाल की पॉलिश है।

बिहार के मुजफ्फरपुर जिला के प्राचीन वैशाली में बसार के निकट भखिरा में पूरी तरह अनुत्कीर्ण स्तंभ परिष्कृत बालुकाश्म का एकल प्रस्तरीय स्तंभ है जो जल स्तर से 32 फीट ऊंचा है और पूरी तरह रंग-रोगन से सज्जित है। कहा जाता है कि जल के अंदर तीन सीढ़ियों वाली वर्गाकार पीठिका बनी हुई है। जल के स्तर पर 49 इंचों के व्यास वाली बल्ले की मोमबत्तियाँ हैं जो शिखर पर 38 इंच की हो जाती हैं। जल के स्तर के ऊपर कुल ऊंचाई 44 फीट है। जलमग्न भाग समेत स्मारक की लंबाई 50 फीट से कम नहीं हो सकती और इसका वजन लगभग 50 टन है।

बिहार के चंपारण जिले में अनुत्कीर्ण लौरिया नंदनगढ़ स्तंभ अभिकल्प में भखिरा स्तंभ जैसा है लेकिन उसकी अपेक्षा हलका और कम स्थूल होने के कारण मनोहर प्रतीत होता है। सतह पर 35 इंच वाला परिष्कृत बल्ला शिखर पर घटकर सिर्फ 22 इंच का रह जाता है। पूरे स्मारक की ऊंचाई लगभग 40 फीट है।

दो विकृत स्तंभ बिहार में चंपारण जिले के रामपूर्वा में विद्यमान हैं। इनमें एक स्तंभ पर खूबसूरत अभिकल्प वाली शेर की प्रतिमा है और दूसरे अनुत्कीर्ण स्तंभ के शीर्ष पर एक सांड की आकृति बनी हुई है।

सारनाथ में पाया गया अशोक-स्तंभ उसके द्वारा निर्मित सभी स्तंभों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके शीर्ष-फलक की मौलिकता यह है कि इसमें चार पशुओं-हाथी, अश्व, सांड और शेर-की आकृतियाँ बनी हुई हैं और सभी एक दूसरे से चक्रों की आकृति के द्वारा पृथक किए गए हैं। ये सारे जानवर और चक्र गतिशील स्थिति में उत्कीर्ण किए गए हैं। संपूर्ण स्तंभ बड़े सलीके से एकीकृत है और वास्तव में ये मूर्तिकला के सर्वोत्तम नमूने प्रस्तुत करते हैं जिन पर हमारा देश गौरवान्वित महसूस कर सकता है।

सोलह शताब्दियों के उपरांत सन 1356 ई. में दो अशोक-स्तंभ, जो अभी दिल्ली में फिरोजशाह कोटला और बड़ा हिन्दूराव अस्पताल के निकट की मेंड पर अवस्थित हैं, सुलतान फिरोजशाह द्वारा क्रमशः अंबाला जिले के टोपरा और मेरठ से लाए गए थे। इनके अन्यत्र स्थानों से लाए जाने और फिर से खड़ा करने से साफ पता चलता है कि मौर्य कालीन प्रस्तर-कर्तकों और अभियंता के कौशल और संसाधन कितने विलक्षण थे। दूरस्थ प्रांतों में ऐसा कोई स्तंभ नहीं पाया गया है जहाँ शिलालेख उत्कीर्ण किया गया हो।

आकृति वाली मूर्तिकला

कुछ बड़ी आकृति वाली मूर्तियाँ दो तथ्यों के आधार पर मौर्यकाल की बताई जाती हैं। पहला आधार है उन पर की गई मौर्यकालीन पॉलिश और दूसरा आधार है उनका चुनार के बालुकाश्म (sand stone) से निर्माण। ये आकृतियाँ अधिकांशतः यक्ष और यक्षणियों की हैं। मौर्यकालीन पॉलिश वाली ऐसी दो यक्ष आकृतियाँ पटना में पाई गई हैं। किंतु इन आकृतियों पर मौर्य काल का आरोपण किसी भी रूप में निश्चयात्मक नहीं है। पत्थर के टुकड़े पर एक मौर्य कालीन खंडित उभार देखने योग्य है। यह एक विलाप करती हुई युवती की बेहद गीतात्मक और रहस्यपूर्ण आकृति है।

पक्की मिट्टी से बने मस्तक

पक्की मिट्टी (टेराकोटा) बालू और पंक से बनती है। सारनाथ और राजघाट के कुछ पुरुष-मस्तक भी मौर्य कालीन बताए जाते हैं क्योंकि वे चुनार के बालुकाश्म को काटकर बनाए गए हैं। बहुत संभव है कि वे चित्राकृति के अंग हों। उनकी मुख्य विशेषता है उनका शिरोवस्त्र (headdress)।

धौली (ओड़िसा) में शिला काट कर बनाया गया हाथी

धौली में शिलाकाट कर बनाए गए हाथी के अगले भाग प्राकृतिक शैल के हैं। यह आकृति कलात्मक दृष्टि से अनेक मौर्य कलाओं से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ है।

सारनाथ का एकल प्रस्तरीय जंगला

यह जंगला सारनाथ में पाया गया है। यह चुनार के बालुकाश्म से बना है और इसकी पॉलिश मौर्यकाल की है। कलात्मक दृष्टि से यह उत्कृष्ट और चिकना है।

12.7.3 मौर्यकला पर विदेशी प्रभाव

यूरोपीय विद्वानों ने मौर्यों की मूर्तिकला पर विदेशी प्रभाव ढूँढने की कोशिश की है। सर जान मार्शल का मत है कि अशोक स्तंभ फ़ारसी स्तंभों से अंगीकृत एवं अनुकृत किए गए। एकल प्रस्तरीय स्तंभ फ़ारसी स्तंभों से अंगीकृत एवं हकीकत सिद्ध करते हैं और जान पड़ता है कि आरंभिक कला ने फारस से भारी प्रेरणा ग्रहण की थी। लेकिन ध्यान से देखने पर दोनों के बीच अनेक भेद जाहिर होते हैं। संभव है अशोक ने स्तंभ खड़ा करने का विचार फ़ारसी कला से ग्रहण किया हो, लेकिन यह मान लेना तर्कसंगत नहीं है कि समूचा स्तंभ फ़ारसी स्तंभ का ही अनुकरण है। सारनाथ का स्तंभ अपने आरंभिक स्वरूप की तुलना में बहुत कम परंपरागत है लेकिन अभिकल्प और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से किसी भी फ़ारसी काल से कहीं बढ़कर है।

वी. सिमथ जैसे विद्वान मौर्य काल की पशु-मूर्ति कला पर यूनानी प्रभाव देखते हैं। उनके अनुसार शरीर और उसके विभिन्न अंगों का निरूपण यूनानी मूलों के आधार पर किया गया है। लेकिन, भारतीय विद्वानों का मानना है कि शैल खोदकर पशुओं की मूर्ति बनाने की हमारी अपनी परंपरा रही है, क्योंकि मौर्यकालीन सांड की मूर्ति और सिन्धु सभ्यता

की मूर्ति में भारी समानताएँ हैं। अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मौर्यकला पर थोड़ा-बहुत यूनानी प्रभाव हो सकता है किंतु विषय, भावना और ब्योरे विशुद्ध भारतीय हैं।

प्रगति जाँच अभ्यास 6

क. सही-गलत बताएँ:

- (i) प्राचीन भारत में कला का इतिहास वास्तव में अशोक के शासन-काल से ही प्रारंभ होता है।
- (ii) स्तूप में बुद्ध अथवा किसी अन्य संत के अवशेष मंजूषा में रखे जाते थे अथवा बौद्ध मठ के इतिहास में किसी प्रसिद्ध घटना के कोई उल्लेखनीय दृश्य को संजोया जाता था।
- (iii) शैल को काट कर बनाई गई गुफाओं में से किसी का संबंध मौर्य काल से नहीं है।
- (iv) सर जान मार्शल का मत है कि अशोक स्तंभ फ़ारसी स्तंभों से अंगीकृत एवं अनुकृत किए गए।
- (v) मौर्यकला पर थोड़ा-बहुत यूनानी प्रभाव हो सकता है किंतु विषय, भावना और ब्योरे विशुद्ध भारतीय हैं।

12.8 मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

मौर्यों के शासन-काल में भारत ने विश्व में गौरवशाली स्थिति प्राप्त कर ली और यह इसकी सभ्यता के विस्तार का केंद्र बन गया। लेकिन अशोक के तुरंत बाद इसका तेजी से हास होने लगा और उसकी मृत्यु के पचास वर्षों के भीतर यह साम्राज्य बिखर गया। इसका अपकर्ष भी उतना ही आकस्मिक था जितना कि इसका उत्कर्ष। लेकिन इसके पतन की आकस्मिकता उतनी विस्मयकारी नहीं है जितनी कि इसकी दीर्घ जीविता। उतने प्राचीन काल में जबकि परिवहन और सूचना की प्रणालियाँ अपरिष्कृत थीं भारत जैसे विशाल देश में विभिन्न और विविध सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समुदायों को डेढ़ शताब्दी तक एक सूत्र में बांधे रखना वस्तुतः राजनीतिक दृष्टि से अति प्रतिभा संपन्न व्यक्तियों के लिए ही संभव था न कि महज स्वप्नद्रष्टाओं के लिए जैसा कि कभी-कभार मौर्य राजाओं के बारे में कहा जाता है।

12.8.1 अशोक की नीतियाँ

साम्राज्य के पतन के लिए कभी-कभार अशोक को जिम्मेदार ठहराया जाता है। पुष्पमित्र शुंग के राज-विप्लव द्वारा मौर्य वंश के विनाश को अशोक की बौद्ध-समर्थक नीति के विरुद्ध ब्राह्मणों के विद्रोह का परिणाम माना गया। परंतु इस दावे का समर्थन करना कठिन है। अशोक ने निजी धर्म को कभी भी राज्य-धर्म पर तरजीह नहीं दी। जो राजा अपनी प्रजा को धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाते कभी थकता नहीं था और जिसने अपने संपूर्ण साम्राज्य में विभिन्न धार्मिक मान्यताओं को प्रोत्साहित किया उसे धार्मिक असहिष्णुता का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। एक समालोचक ने ठीक ही कहा है, 'अशोक की सामान्य नीति न तो विशिष्ट रूप से बौद्ध-समर्थक थी, न ब्राह्मण-विरुद्ध। किसी के भी द्वारा स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का मार्ग खुला था'। इसके अतिरिक्त, मौर्य वंश के विनाशक पुष्पमित्र शुंग द्वारा स्थापित ब्राह्मण राजवंश का तख्ता एक अन्य ब्राह्मण राजवंश 'कण्व' द्वारा ही उलट दिया गया। इस प्रकार, इस राजवंश के पतन के मूल कारण धार्मिक नहीं, राजनीतिक थे और देश की विशालता भी निश्चय ही इसका एक प्रमुख कारक थी।

12.8.2 विखंडन के राजनीतिक कारण

भारत का इतिहास केंद्रापसारी (centrifugal) और केंद्राभिसारी (centripetal) दोनों प्रवृत्तियों के लगातार पारस्परिक प्रभाव का इतिहास रहा है। जब केन्द्रापसारी प्रवृत्तियाँ प्रबल हुई हैं तो क्षेत्रवाद और विघटन को बढ़ावा मिला है जैसा

कि अशोक के बाद हुआ और जब केंद्राभिसारी प्रवृत्तियाँ प्रबल हुई हैं तो उनका स्वाभाविक परिणाम राजनीतिक एकीकरण हुआ है। इस एकीकरण का स्वरूप और क्षेत्र एकीकर्ता के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। मौर्य साम्राज्य इस ऐतिहासिक तथ्य का अपवाद नहीं था।

अशोक के द्वारा युद्ध का परित्याग और धर्म विजय के प्रतिस्थापन का अर्थ यह नहीं था कि उसने अपनी सेना को विघटित कर दिया और न उसके द्वारा अहिंसा के समर्थन का स्वरूप इतना अव्यावहारिक था। हाँ इतना अवश्य था कि इसके फलस्वरूप सेना का मनोबल और उत्साह तथा उसके उत्तराधिकारियों की दूरदर्शिता संभवतः मंद पड़ गई थी। यही कारण है कि हिंदूकुश के उस पार बैक्ट्रियाई और पार्थियनों के नए राजनीतिक मेल और उनके अभ्युदय की उपेक्षा की गई और सीमाओं की सुरक्षा पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। मौर्य साम्राज्य की अंतर्निहित राजवंशीय कमजोरी यह थी कि वह बहुत हद तक राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर था और जब चंद्रगुप्त और अशोक जैसे समर्थ सम्राटों का अभाव हो गया तो केन्द्रापसारी प्रवृत्तियों की सारी बुराइयाँ-दरबार में गुटबंदी, दूरस्थ क्षेत्रों के प्रांतीय राज्याध्यक्षों और प्रतिनिधि-शासकों द्वारा स्वतंत्रता के दावे और विदेशी हमले उजागर हो उठे। महामात्रों के अधीन प्रशासनिक सेवा के स्थायी संवर्ग से वर्ग को खड़ा करने के बावजूद मौर्य शासक इन प्रवृत्तियों पर अंकुश नहीं लगा सके और अशोक के दुर्बल उत्तराधिकारी इसके लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार थे।

12.8.3 अशोक के उत्तराधिकारी

प्राचीन भारत में राजतंत्र के सैद्धांतिक आधार के लंबे-चौड़े दावे के बावजूद मौर्य राजा व्यवहार में कमोबेश निरंकुश शासक थे। और जैसा कि हम जानते हैं, कोई भी निरंकुश शासक, चाहे वह कितना भी सक्षम, सद्भावनापूर्ण, ईमानदार और अपनी प्रजा के प्रति दायित्वों के प्रति सचेत क्यों न हो, अपने सर्वोत्तम प्रयासों के बावजूद यह सुनिश्चित नहीं कर सकता कि उसके उत्तराधिकारी उसके मार्ग का अनुसरण करेंगे ही। ऐसी कोई सुनिश्चित विधि तो है नहीं जिसके माध्यम से वह अपने सदगुणों और अर्हता को अपने उत्तराधिकारियों तक पहुँचा सके। इसलिए प्रायः ऐसा होता है और भारत का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है कि एक भला और परोपकारी राजा का उत्तराधिकारी निकम्मा, दुश्चरित्र और अयोग्य होता है। आमतौर पर प्रत्येक व्यक्तिगत शासन का यह मुख्य अभिशाप है। अशोक की मृत्यु के उपरांत यही हुआ। उसके उत्तराधिकारी, कुल मिलाकर, दुर्बल और गैर-जिम्मेदार थे जिन्होंने अपनी प्रजा के कल्याण की कीमत पर अपने समय, ऊर्जा और संपत्ति का अपव्यय भोग-विलास में किया और इस प्रकार, “धर्म-चक्र का अधिराज्य, सदाचरण का राज्य, जिसे अशोक ने संस्थापित करना चाहा था, उसके बाद जीवित नहीं रह सका, क्योंकि यह प्रजातंत्र के जरिए जनता की इच्छा पर आधारित नहीं था जो राजतंत्र में वैयक्तिक कारक से स्वतंत्र होता है” (आर.के. मुखर्जी)।

12.8.4 आर्थिक कारक

हमें उन आर्थिक कारणों को भी नहीं भूलना चाहिए जिन्होंने मौर्य साम्राज्य के पतन और विघटन को गति प्रदान की। बोझिल और खर्चीली नौकरशाही, चन्द्रगुप्त और अशोक के समय में अपनी कार्य-कुशलता के शानदार कीर्तिमान के बावजूद, शिथिल, उदासीन और पराश्रयी होती गई। प्रशासन के खर्च में बेतहाशा वृद्धि हुई, जबकि संसाधन लगभग उतने ही रहे। मौर्य शासन के उत्तरकाल में खोटे सिक्कों का प्रचलन आर्थिक अवरोधन की नई प्रवृत्ति का द्योतक था। बढ़ती आर्थिक कमजोरी का अनिवार्य असर प्रशासनिक क्षमता पर पड़ा और अशोक के उत्तराधिकारी शासक भी अयोग्य सिद्ध हुए। इन दोनों कारकों ने मिलकर एक समय के शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य के शीघ्र विघटन को अपरिहार्य बना दिया।

12.9 उपसंहार

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अशोक के उत्तराधिकारियों की कमजोरी मौर्य साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण था। मौर्यों के पतन की दिशा में अशोक की शांतिवादी नीति अप्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार थी जबकि उनके कमजोर उत्तराधिकारी इसके असली उत्तरदायी थे। आर्थिक व अन्य राजनीतिक कारकों ने भी मौर्य साम्राज्य के विघटन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

प्रगति जाँच अभ्यास 7

क. निम्नलिखित में कौन-सा कथन असत्य है?

- (i) मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए अशोक ही पूरी तरह जिम्मेदार है।
- (ii) कमोबेश अशोक के सभी उत्तराधिकारी कमजोर और गैर जिम्मेदार तानाशाह थे।
- (iii) मौर्य काल के दौरान प्रशासनिक खर्च में भारी वृद्धि हुई।
- (iv) मौर्य शासन के उत्तरकाल में खोटे सिक्कों का प्रचलन आर्थिक अवरोधन की नई प्रवृत्ति का द्योतक था।

ख. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

- (i) मौर्यकालीन प्रशासन के स्वरूप एवं मुख्य विशेषताओं की विवेचना करें।
- (ii) मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों का विश्लेषण करते हुए बताएँ कि अशोक इसके लिए किस हद तक जिम्मेदार था।
- (iii) मौर्यकालीन कला और स्थापत्य पर एक संक्षिप्त निबंध लिखें।

सारांश

- मौर्य साम्राज्य की शुरुआत के साथ भारतीय इतिहास ने 321 ईसा पूर्व के आसपास एक नए युग में प्रवेश किया जब भारत में पहली बार राजनीतिक एकता और प्रशासनिक एकरूपता का गठन हुआ।
- कौटिल्य के अर्थशास्त्र, अशोक के शिलालेखों और अन्य स्रोतों से पता चलाता है कि मौर्य प्रशासनिक ढांचे के तहत राजा काफ़ी शक्तिशाली और सर्वोपरि था। उसके अधीन एक विशाल सेना थी, अपराध से निपटने का कुशल तंत्र था, राजस्व के नए स्रोत थे, एक श्रेणीबद्ध विशाल नौकरशाही थी और सभी मिलकर शाही शक्ति को अपार मजबूती प्रदान करते थे।
- मौर्यों ने संपूर्ण आर्थिक गतिविधियों पर राज्य द्वारा नियंत्रण की नीति अपनाई। इसमें कृषि, उद्योग, व्यापार एवं यातायात तथा जनता पर सारे संभावित करों के आरोपण शामिल थे।
- अशोक की मृत्यु के तुरंत बाद उत्तर और दक्षिण में स्थानीय राजनीति में वृद्धि, उत्तराधिकारियों की अयोग्यता एवं अन्य राजनीतिक व आर्थिक कारकों ने मौर्य साम्राज्य के पतन का मार्ग सुनिश्चित कर दिया।
- अशोक का धम्म संबंधी विचार आम नैतिक सिद्धांतों व बौद्ध सहित सभी धार्मिक संप्रदायों का सार तत्त्व पर आधारित था।
- अशोक ने धम्म के प्रचार हेतु विदेशी मिशन के लिए एक कुशल प्रणाली का गठन किया।

- प्राचीन भारत में कला का इतिहास लगभग अशोक के शासनकाल से शुरू होता है। मौर्यकला पर थोड़ा-बहुत यूनानी प्रभाव हो सकता है किंतु विषय, भावना और ब्योरे विशुद्ध भारतीय हैं।

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. देखें खंड 12.2

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. संक्षिप्त टिप्पणी:

(i) देखें खंड 12.3.2

(ii) देखें खंड 12.3.3

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. देखें खंड 12.4.2

प्रगति जाँच अभ्यास 4

क. (i) राजा (ii) समाहर्ता (iii) धर्मस्थ (iv) कंटक-शोधन (v) प्रादेशिक

प्रगति जाँच अभ्यास 5

क. देखें खंड 12.6

प्रगति जाँच अभ्यास 6

क. (i) सही (ii) सही (iii) गलत (iv) सही (v) गलत

प्रगति जाँच अभ्यास 7

क. विकल्प (i) असत्य है।

ख. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:

(i) देखें खंड 12.5

(ii) देखें खंड 12.8

(iii) देखें खंड 12.7

पाठ 13

मौर्योत्तरकालीन प्रतिमान (200 ईसा पूर्व से 300 ईस्वी तक)

पाठ्य-रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 राजनीतिक इतिहास

13.2.1 शुंग

13.2.2 सातवाहन

13.2.3 बाहरी मूल के राजवंश

13.3 आर्थिक इतिहास

13.3.1 शहरों का विकास

13.3.2 शिल्प उत्पादन

13.3.3 शिल्पी संघ

13.3.4 सिक्का

13.3.5 व्यापार

13.4 सामाजिक इतिहास

13.4.1 जाति और वर्ण व्यवस्था

13.4.2 महिलाओं की स्थिति

13.4.3 धार्मिक अनुष्ठान

13.5 सामाजिक इतिहास

13.5.1 धर्म

13.5.2 साहित्य

13.5.3 कला और स्थापत्य

13.6 उपसंहार

13.7 सारांश

13.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन आपको निम्नलिखित विषयों में सक्षम बनाता है:

- ईसा पूर्व 200 से 300 ईस्वी तक के भारतीय राजनीतिक इतिहास की समझ
- व्यापार और शहरीकरण में वृद्धि के कारणों की पहचान

- तेज राजनीतिक और आर्थिक विकास और समाज पर उनके प्रभाव की जाँच
- इस अवधि के कला और स्थापत्य पर धार्मिक और सामाजिक स्थितियों के प्रभाव का विश्लेषण

13.1 प्रस्तावना

मौर्योत्तर काल प्रायः ईसा के 200 वर्ष पूर्व से लेकर 300 ईस्वी सन् तक, अर्थात् मौर्य वंश के पतन से लेकर गुप्तवंश के अभ्युदय तक का काल माना जाता है। वैसे तो इस दौरान अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, लेकिन मुख्य रूप से यह उन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रक्रियाओं की अवधि है जो उत्तर-वैदिक काल (ईसा की छठी शताब्दी पूर्व) में आरंभ हुईं, मौर्य काल में विकसित हुईं और जिनकी परिणति मौर्योत्तर काल में हुईं। पाठ सात और आठ में हम इस अवधि की मुख्य विशेषताओं का सर्वेक्षण करेंगे।

इस सर्वेक्षण के स्रोत हैं साहित्य (इसमें बौद्ध और विदेशी वृत्तांत शामिल हैं), पुरातात्विक खुदाइयाँ (इसमें उत्तरी काला पॉलिशदार मृदभांड का पञ्चवर्ती और उसके बाद का काल शामिल है), सिक्के (अनेक प्रकार के और बड़ी संख्या में), प्राकृत और पहली बार संस्कृत में अभिलेख और इन पांच सौ वर्षों के स्थापत्य और कला के अवशेष।

13.2 राजनीतिक इतिहास

मौर्य साम्राज्य के हास और विघटन के बाद उसके स्थान पर विभिन्न क्षेत्रों में अनेक छोटी-छोटी क्षेत्रीय शक्तियों का अभ्युदय हुआ।

13.2.1 शुंग

गंगा की घाटी में शीघ्र ही पुष्य मित्र- यह मौर्य सेना का सेनापति था और इसके बारे में कहा जाता है कि उसने ईसा के 180 वर्ष पूर्व में अंतिम मौर्य राजा की हत्या कर दी थी- के अधीन शुंगों ने मौर्यों का स्थान ग्रहण कर लिया। शुंगों ने लगभग सौ वर्षों तक शासन किया (बाद में उनका स्थान कण्वों और फिर कण्वों का स्थान मित्रों ने ले लिया) और अपने राज्य में पाटलिपुत्र (मगध), अयोध्या (मध्य उत्तर प्रदेश) और विदिशा (पूर्वी मालवा) को शामिल कर लिया। पुष्य मित्र ने वैदिक अश्वमेध यज्ञ करवाए थे और बौद्ध धर्म के प्रति वह असहिष्णु था।

कलिंग (दक्षिण उड़ीसा) में महामेघ वाहन चेदि ने ईसा पूर्व पहली सदी के अंतिम समय में एक राज्य की स्थापना की। राजा खारवेल, जो चेदिवंश का था, के हाथी गुंफा अभिलेख से यह ज्ञात होता है। उड़ीसा में एक नियमित राजतन्त्र के अभ्युदय से इस काल में राजव्यवस्था और समाज का नए क्षेत्रों में विस्तार का संकेत मिलता है। सातवाहन वंश के राज्य से भी पता चलता है कि प्रतिष्ठान (गोदावरी के तटपर वर्तमान पैठान) में इसकी राजधानी थी और इसमें तथा आंध्र और कभी-कभी तो उत्तरी कर्नाटक दक्षिणी और पूर्वी मध्यप्रदेश तथा सौराष्ट्र के हिस्से भी शामिल थे।

13.2.2 सातवाहन

सातवाहन मौर्योत्तर काल का प्रमुख शासक वंश था। इसने ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्वी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी के आरंभिक काल तक शासन किया। लेकिन, यह निश्चित तौर पर कहना मुश्किल है कि सातवाहन कौन थे और कहाँ से आए थे। अपने अभिलेखों में वे स्वयं को वैदिक यज्ञ करने वाले श्रेष्ठ ब्राह्मण बतलाते हैं, जबकि पुराणों में उन्हें आंध्र और निम्नवर्गीय सामाजिक समूह कहा गया है। इसी प्रकार, 'आंध्र' नाम से कहे जाने के अतिरिक्त आंध्र प्रदेश में आरंभिक सातवाहनी सिक्कों की प्राप्ति के कारण कुछ इतिहासकारों का मानना है कि सातवाहनों ने अपना शासन पूर्वी दक्कन में शुरू किया और वहाँ से पश्चिम की तरफ फैल गए। इसके विपरीत, नासिक और नान घाट की

गुफाओं में उनके अभिलेखों से पश्चिमी दक्कन में सात वाहनों के आरंभिक सत्ता-केंद्र का संकेत मिलता है। जो भी हो, सातवाहनों ने दक्षिण पथ के महाप्रभु की उपाधि धारण की और रोमन इतिहासकार प्लिनी का भी मानना है कि आंध्रों के पास अनेक गांव, दीवारों से घिरे तीस शहर समेत 1,00,000 पैदल, 2,000 अश्वारोही और 1,000 हाथियों की सेना थी।

सातवाहनों के अधिकार-क्षेत्र अनेक प्रशासकीय विभागों में बंटे थे और उनमें आमात्यों, महामात्रों, लिपिकों और अभिलेखापालों की नियुक्ति की जाती थी। फिर भी, साम्राज्य का बुनियादी ढांचा सामंतवादी था, अर्थात् राज्य में महारथियों और महाभोजों के नाम से ज्ञात अनेक स्थानीय शासक थे जिन पर सातवाहन राजनीतिक प्रभुता तो रखते थे, लेकिन उन्हें नष्ट नहीं करते थे। सातवाहन वंश के कुछ प्रमुख शासक थे- गौतमीपुत्र सातकर्णी (लगभग 106-130 ई.)-जिसके शासन काल में साम्राज्य का सर्वाधिक क्षेत्रीय विस्तार हुआ-उसका पुत्र वाशिष्ठी पुत्र पुलुमावी (130-154 ई.), और यज्ञ श्री शातकर्णी (165-194 ई.)। सातवाहन नरेशों द्वारा मातृनाम का उपयोग और उनकी रानियों द्वारा निर्गत अभिलेख उनकी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। इस राजवंश का एक अन्य उल्लेखनीय पहलू है उनके द्वारा शीशे और उसके मिश्रधातु पोटिन से बने सिक्कों का जारी किया जाना।

13.2.3 बाहरी मूल के राजवंश

अंततः मौर्योत्तर काल में उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम और पश्चिम-मध्य भागों में अनेक बाहरी मूल के राजवंशों का शासन चला, कभी-कभार तो साथ-साथ और इसका कारण था मध्य एशिया से कबीलाई छापेमारियां।

इंडो-ग्रीक

इनमें सर्वप्रथम इंडो-ग्रीक अथवा इंडो-बैक्ट्रियाई आए। इनका आगमन हिन्दूकुश पर्वत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र, उत्तर अफगानिस्तान से मिलता-जुलता क्षेत्र से हुआ। वे सिन्धु घाटी और पंजाब में फैल गए वहाँ एक साम्राज्य की स्थापना की। कभी-कभार वे ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा की पहली शताब्दी के बीच गंगा-यमुना के दोआब तक धावा कर देते थे। वे मुख्य रूप से अपने सिक्कों के लिए जाने जाते हैं। इन सिक्कों में भारत में हुई खुदाइयों से न सिर्फ आरंभिक काल के सोने के सिक्के प्राप्त हुए हैं, अपितु व्यक्तिगत नरेशों के चित्र और दंत कथाएँ भी मिली हैं जिनके कारण उनकी पहचान में सुविधा हुई है। इस क्षेत्र में इंडो-ग्रीक शासन भी यूनानी संस्कृति के प्रभाव के लिए उत्तरदायी है जिसकी स्पष्ट झलक एक ओर नगर-आयोजन में मिलती है तो दूसरी ओर मूर्तिकला में। सर्वाधिक प्रसिद्ध नरेश है मिनांडर (165-145 ई.) जिसने नागसेन नामक बौद्ध भिक्षु के साथ लंबी वार्ता के बाद बौद्ध ग्रहण कर लिया। पालिग्रंथ 'मिलिंद पन्हों' में वार्ता का शीर्षक है मिलिंद (मिनांडर का भारतीय नाम) के प्रश्न।

शक

अगला आक्रामक थे सीथियन अथवा शक (भारत में उन्हें इसी नाम से जाना जाता है) जो मध्य एशिया के कबीले थे। शकों की विभिन्न शाखाओं ने उत्तर और मध्य भारत के विभिन्न भागों में अपने शासन स्थापित कर लिए, जैसे- तक्षशिला और मथुरा में। शकों के प्रधान क्षत्रप कहे जाते थे। शकों की सबसे सुदृढ़ और सबसे लंबी उपस्थिति मालवा में थी जहाँ ये ईसा की चौथी शताब्दी तक बने रहे। इन क्षेत्रों में सर्वाधिक प्रसिद्ध रुद्रादमन हुआ जिसने मालवा के अतिरिक्त सौराष्ट्र, काठियावाड़, कोंकण और सिंध पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। इसका उल्लेख सातवाहन के नासिक अभिलेख और रुद्रादमन के जूनागढ़ अभिलेख दोनों में हुआ है। यह महत्वपूर्ण है कि रुद्रादमन का अभिलेख प्राचीन भारत का शुद्ध संस्कृत का प्रथम शिलालेख है।

पहलव

शकों के तुरंत बाद पार्थियन अथवा पहलव आए जो मूलतः ईरानी थे। उन्होंने उत्तर-पश्चिम में अपेक्षाकृत एक छोटी-सी जागीर पर अपना कब्जा जमाया। उनका सबसे प्रसिद्ध राजा था गोंदोफर्निस। उनकी राजधानी तक्षिला थी।

कुषाण

मौर्योत्तर काल में उपमहाद्वीप में प्रवेश करने वाली अंतिम मध्य एशियाई शक्तिशाली जाति कुषाणों की थी। ये यूची नामक चीनी सीमा पर रहने वाली जनजाति के लोग थे जो अपने गृह-प्रदेश में अन्य जनजातियों के बढ़ते दबाव के कारण अन्य क्षेत्रों की ओर आ गए। लघु सूची के नाम से ज्ञात इनका एक समुदाय उत्तरी तिब्बत में आकर बस गया, जबकि महायूची समुदाय ने ओक्सस नदी की घाटी में पांच रियासतों पर कब्जा कर लिया। ईसा की प्रथम सदी के आरंभ के आसपास कुजुल कडफिसस नामक एक सरदार और उसके पुत्र विमाने इन पाँच क्षेत्रों को एक साथ कर एकीकृत कुषाण साम्राज्य की नींव डाली। यह साम्राज्य उत्तर में ओक्सस नदी से दक्षिण में सिन्धु नदी तक और पश्चिम में खोरसान से पूरब में पंजाब तक फैला था।

कुषाणों ने सही अर्थ में उपमहाद्वीप में प्रवेश किया और कनिष्क नामक राजा के समय में इनकी शक्ति में भारी वृद्धि हुई। उसके शासन-काल में, जो लगभग 78 ई. (शकसंवत् के आरंभ का वर्ष) में शुरू हुआ, कुषाण साम्राज्य गंगा की घाटी में आगे बढ़कर वाराणसी और दक्षिण में मालवा तक पहुँच गया। इतने विस्तृत साम्राज्य में विभिन्न संस्कृतियाँ- भारतीय, यूनानी, पश्चिम और मध्य एशियाई-एक ही छत्र के नीचे आ गईं जिसके फलस्वरूप अनेक समुदाय के लोग और विभिन्न रीति-रिवाज आपस में घुल-मिल गए।

कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों-हुविष्क, कनिष्क द्वितीय और वासुदेव प्रथम, इत्यादि-ने लगभग 230 ई. तक शासन किया। भारतीय क्षेत्र में उनकी दो राजधानियाँ थी, एक पुरुषपुर (पेशावर) और दूसरी मथुरा में। यद्यपि उन्होंने देवपुत्र, कैसर और शहंशाह जैसी उपाधियाँ धारण की, लेकिन वे सम्पूर्ण साम्राज्य पर सीधा और पूर्ण नियंत्रण नहीं रखते थे। साम्राज्य के बड़े भाग क्षत्रपों और महाक्षत्रियों की उपाधि वाले अधीनस्थ शासकों के नियंत्रण में थे।

कुषाणों ने लगाम और जीन अथवा पोशाक में पायजामा-कुर्ता-कोट को उपयोग में लाकर अश्वारोही सेना की गुणवत्ता में तो वृद्धि की ही, देशी सांस्कृतिक तत्त्वों को भी अंगीकार कर लिया, जैसा कि उनके द्वारा बौद्ध और शैव तथा संस्कृत साहित्य के संरक्षण से जाहिर होता है।

जैसे-जैसे कुषाणों की शक्ति घटती गई, उनके द्वारा पराभूत स्थानीय राजवंशों ने पूर्ण उत्तर और मध्य भारत में सिर उठाना शुरू कर दिया। इनमें मालवा के शक और अच्छी-खासी संख्या में नाग, मित्र और दत्त नरेशों के अतिरिक्त अर्जुनयन, मालव और यौधेय जैसे गौर-राजतन्त्रीय गण शामिल थे जिनके बारे में हमें उनके सिक्कों, मुहरों और अभिलेखों से जानकारी मिलती है। इन्हीं स्थितियों में ईसा की चौथी सदी के आरंभ में गुप्तों द्वारा सत्ता पर काबिज होने से एक नए दौर का सूत्रपात हुआ।

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. जोड़ा मिलाएँ:

- | | |
|--------------------------|---------|
| (i) खारवेल | a. पहलव |
| (ii) गौतमीपुत्र सातकर्णी | b. शुंग |

- | | |
|------------------|---------------|
| (iii) रूद्रदमन | c. महामेघवाहन |
| (iv) गोंदोफर्निस | d. सातवाहन |
| (v) पुष्यमित्र | e. शक |

13.3 आर्थिक इतिहास

साहित्य और पुरातत्त्व से इस बात के पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि ईसा पूर्व दूसरी सदी और ईसा की तीसरी सदी के बीच संपूर्ण उपमहाद्वीप में नगरीय संपन्नता का माहौल था। वास्तव में यह आरंभिक ऐतिहासिक नगरीकरण की पराकाष्ठा का द्योतक है। ईसा पूर्व छठी सदी में जो नगर, विशेषकर गंगा की घाटी में, बने उनमें तो समृद्धि आई ही, नए नगर भी उठ खड़े हुए और नागर जीवन नए क्षेत्रों, जैसे-कश्मीर, सिंध, राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा, आंध्र, कर्नाटक और दूर दक्षिण-में फैल गया। शहरी जीवन का यह विस्तार एक ओर कृषि, शिल्प-उत्पाद और व्यापार के विस्तार और दूसरी ओर नए शासक वंशों और सत्ता-केंद्रों की स्थापना के साथ-साथ हुआ।

13.3.1 शहरों का विकास

इस काल के नगर न सिर्फ व्यापक निर्माण कार्य, संश्लिष्ट पक्की ईंटों के भवनों, सुंदर-सुनियोजित गलियों और नालियों और किले-बंदी वाली दीवारों का बल्कि फर्श और छत में टाइलों के उपयोग जैसी नई तकनीकों का भी बोध कराते हैं। नगर-केंद्रों से सिक्का-ढलाई का चलन, मृदभांड, माला और मृण्मूर्ति जैसी जटिल और परिष्कृत कला-कृतियों के व्यापक प्रसार का भी साक्ष्य मिलता है। इस अवधि के फलते-फूलते नगरों में राजगृह, पाटलिपुत्र, वाराणसी, श्रीवस्ती, कौशांबी, मथुरा, हसितनापुर, अयोध्या, उज्जयिनी, प्रतिष्ठान प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य शहर भी आते हैं, जैसे-सिर्कप, सिर्सुख और शैखान उत्तर-पश्चिम में हष्कपुर और कनिष्कपुर कश्मीर में, पुरुषपुर पाकिस्तान में, जौगदा और शिशुपालगढ़ उड़ीसा में, बैरात और नागरी राजस्थान में, कौनिडन्य नगर और भोगवर्धन महाराष्ट्र में, नागर्जुन कोंडा और अमरावती आंध्र में। इन नगरों के अभ्युदय में निश्चित रूप से एक सुदृढ़ कृषि-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान था। मौर्यकाल की भांति राजकीय फार्म की चर्चा तो इस अवधि में नहीं मिलती, लेकिन, जातक, मिलिंद पण्हो और मनुस्मृति जैसे ग्रंथों में निजी अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व वाले भूखंडों पर विकसित खेती का उल्लेख अवश्य मिलता है। पश्चिमी दक्कन के कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि खेत आकार में 2,3 या 4 निवर्तन (एक निवर्तन-डेढ़ एकड़) से लेकर 100 या अधिक निवर्तन के होते थे। फिर भी, इन पर राजा सामान्य क्षेत्रीय प्रभुत्व रखता था जिसकी बदौलत वह इन सारे गाँवों (से प्राप्त राजस्व) को ब्राह्मणों अथवा भिक्षु-संघों को दान कर सकता था। वास्तव में, राजकीय भूमि के अनुदान का अभिलेखीय प्रमाण सर्वप्रथम सातवाहन साम्राज्य की ईसा पूर्व पहली सदी और उसके बाद फिर ईसा की दूसरी सदी से मिलता है। राजकीय भूमि अनुदान में उसके प्राप्तकर्ता के लिए कर मुक्ति, अथवा शाही सेनाओं के प्रवेश से मुक्ति जैसी खास सहूलियतें प्राप्त थीं। यह परंपरा स्थायी बन गई और कुषाणों के शासन-काल में इसे अक्षय निवि कहा जाने लगा। भूमि के अनुदान का चलन गुप्तकाल से लेकर आगे तक के लिए सामान्य हो गया और कृषि व्यवस्था पर इसका अच्छा-खासा असर पड़ा।

13.3.2 शिल्प उत्पादन

मौर्योत्तर आर्थिक परिदृश्य की एक अनूठी विशेषता थी शिल्पकारिता में उल्लेखनीय प्रगति। ग्रंथों और सांची, भारत, और मथुरा के स्तूपों के दातव्य अभिलेखों से शिल्प-आधारित व्यवसायों की बहुलता और विशेषज्ञता का संकेत मिलता है। महावास्तु सिर्फ राजगृह में 36 और मिलिंद पनहों 75 ऐसे शिल्प-आधारित उद्योगों का उल्लेख करते हैं। इन

व्यवसायों में कुछ इस प्रकार के हैं; लोहकार, स्वर्णकार, मणिकार, संगतराश, काष्ठकार, कर्मकार, तैलिक, गंधिक, मालकार तथा बुनकर, कुंभकार, हसितदंत कार, चीनी निर्माता, अनाज व्यापारी, फल विक्रेता और मद्यनिर्माता।

13.3.3 शिल्पी संघ

यह उल्लेखनीय है कि शिल्पकार और व्यापारी श्रेणियाँ निगम में संगठित थे और मौर्योत्तर काल में इनकी संख्या और क्रियाकलाप में भारी वृद्धि हुई। जातकों में ऐसी 18 श्रेणियों का जिक्र मिलता है। पश्चिमी दक्कन के अभिलेख अनेक श्रेणियों द्वारा दिए गए उपहार का उल्लेख करते हैं जिससे उनकी समृद्धि और सामाजिक स्थिति का पता चलता है।

श्रेणियों के प्रधान जेठक अथवा प्रमुख कहलाते थे और राजा से उनकी निकटता होती थी। ये श्रेणियाँ अपने सिक्के और मुहरें जारी कर सकती थीं, जैसा कि तक्षशिला, कौशांबी, वाराणसी और अहिक्षत्र में पाए गए हैं। यदि लोग संघ को दान देना चाहते थे और इसके लिए संघ में पैसा जमा करना चाहते थे तो ये श्रेणियाँ उनके लिए साहूकार का भी काम करती थीं। उस पैसे से होने वाले ब्याज पर ये श्रेणियाँ नियमित अंतराल पर दाता की इच्छानुसार अनाज या वस्त्र संघ को प्रदान करती थीं।

13.3.4 सिक्का

इन सारे घटनाक्रमों की स्वाभाविक सहचरी थी एक मौद्रिक अर्थव्यवस्था। उस काल में विभिन्न प्रकार के सिक्के भारी संख्या में प्रचलित थे। जैसा कि ऊपर में कहा जा चुका है, ऐसे सिक्के राजवंशों, गणों, श्रेणियों और नगर प्रशासन द्वारा निर्गत किए जाते थे। ये सिक्के सोना, चांदी, तांबा (कुषाणों ने बड़ी संख्या में तांबा के सिक्के जारी किए), शीशा, पोटिन, निकल इत्यादि के बने होते थे। इन विभिन्न प्रकार की धातुओं के नाम से पता चलता है कि विभिन्न स्तरों पर कारोबार नकद के रूप में चलाए जा रहे थे।

13.3.5 व्यापार

अगर ईसा पूर्व छठी शताब्दी व्यापार का आरंभिक काल थी तो मौर्योत्तर अवधि में आंतरिक और बाह्य स्थलीय और सामुद्रिक दोनों प्रकार की व्यापारिक क्रियाओं में भारी तेजी आई। साहित्यिक स्रोत उपमहाद्वीप के भीतर व्यापार में अनेक प्रकार की वस्तुओं के व्यापार की चर्चा करते हैं, यथा-पूरब, पश्चिम और सुदूर दक्षिण से सूती वस्त्र, पश्चिम से इस्पात के बने हथियार, उत्तर-पश्चिम से घोड़े और ऊंट, पूरब और दक्षिण से हाथी, वगैरह नगर विशिष्ट मालों के लिए प्रसिद्ध थे, जैसे; वाराणसी रेशम, मलमल और चंदन के लिए काशी, मदुरै और कांची सूती वस्त्र के लिए।

उपमहाद्वीप में स्थल और नदी-मार्गों का जाल फैला था जिनसे होकर माल दूर तक के बाजारों तक ढोए जाते थे। उदाहरणस्वरूप उत्तरा पथ उत्तर भारत का मुख्य पार-क्षेत्रीय मार्ग था, जो उत्तर-पश्चिम में अवस्थित तक्षशिला को मथुरा, वैशाली, श्रावस्ती और पाटलिपुत्र से होते हुए पूर्वीतट पर ताम्रलिप्ति से जोड़ता था। दक्षिणा पथ पाटलिपुत्र से शुरू होता था जो प्रतिष्ठान तक और वहाँ से पश्चिमी तट के पत्तनों तक जाता था। एक अन्य मार्ग, एक ओर मथुरा से उज्जयिनी और फिर वहाँ से माहिष्मती तक जाता था तो दूसरी ओर भृगुकच्छ और सोपार तक। अनेक मार्ग दक्षिण में और आगे तक जाते थे।

उपमहाद्वीप का आंतरिक व्यापार तंत्र पूरी तरह अपने पारमहाद्वीपीय वाणिज्यिक लेन-देन मध्य और पश्चिम एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया, चीन और भूमध्यसागर से जुड़ा था। भारत का आंतरिक व्यापार दो प्रकार था: सीमावर्ती और पारगमन। सीमावर्ती व्यापार वैसे सामानों का होता था जो भारत में बनाए जाते थे और अन्य तटों तक निर्यातित किए जाते थे। दोनों स्थितियों में भारत ही अंतिम लक्ष्य-स्थान था। पारगमन व्यापार में वैसे पण्य शामिल थे जो अन्य देशों में

बनते और भेजे जाते थे और वे सिर्फ उपमहाद्वीप से होकर गुजरते थे। भारत गोदाम का काम करता था।

भारत के पारगमन व्यापार की मुख्य उत्प्रेरणा पश्चिमी जगत में चीनी रेशम की मांग थी। चीन से भूमध्य सागर तक का प्रसिद्ध स्थलीय महारेशम मार्ग कुषाण साम्राज्य की उत्तरी सीमाओं-कश्मीर और उत्तरी अफगानिस्तान-से होकर पुरुषपुर, पुष्कलवती और तक्षशिला को स्पर्श करते हुए गुजरता था। आगे चलकर, मध्य एशिया के क्षेत्र में अस्थिरता के कारण, इस व्यापार का एक भाग भारत में और दक्षिण की ओर मोड़ दिया गया और, बाद में, यह भृगुकच्छ, कल्याण और सोपरा जैसे पश्चिमी तट के भारतीय पत्तनों से होकर फारस की खाड़ी के जरिए रोमन साम्राज्य तक पहुँच गया। दक्षिण-पश्चिम मानसूनी हवाओं ने इस समुद्री मार्ग को और आसान बना दिया। (चीन के साथ भारत का स्वतंत्र व्यापार भी होता था जिसमें भारत मोतियों, शीशा और इत्रों का निर्यात और रेशम का आयात करता था)।

लेकिन भारत और रोम के बीच का व्यापार चीनी रेशम तक ही सिमित नहीं था। 'पेरिप्लस ऑफ़ द एरिथियन सी' सागर और संगम साहित्य के अनुसार ईसा पूर्व पहली शताब्दी से ईसा की दूसरी शताब्दी के बीच दोनों के बीच का व्यापार तीव्र गति से जारी था। रोमवासी भारत से मसाले, मलमल और मोती मंगाते थे और बदले में रोमवासी, जिन्हें यवन भी कहा जाता था, भारत को मद्य, दोहत्था कलश और कुछ अन्य मृण्पात्र भेजते थे।

सबसे बढ़कर सोने और चांदी का महाद्वीप में आगमन होता था जो भारत के पक्ष में व्यापार के संतुलन का परिणाम था। ईसा की प्रथम शताब्दी का रोमन इतिहासकार प्लिनी स्वर्ण के इस अपक्षय का परिवाद करता है। रोमन सिक्कों, विशेष रूप से सम्राट ऑगस्टस और टाइबेरियस के सिक्कों के ढेर महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु के अनेक स्थलों पर पाए गए हैं। पूर्व में ऐसा माना जाता था कि यवन व्यापारियों ने यहाँ अरिका मेडु जैसे स्थानों पर व्यापारिक उपनिवेश (पण्यशालाएँ) कायम किए थे, लेकिन आज के इतिहासकार ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार ऐसा करना आवश्यक नहीं था क्योंकि भारतीयों और रोमवासियों के अतिरिक्त फारस की खाड़ी के अरब और मिस्र के यूनानी समुदायों ने भारत और रोम के बीच के व्यापार में बिचौलियों की भूमिका निभाई होगी।

इस उपमहाद्वीप के वाणिज्यिक सम्बंध दक्षिण-पूर्व एशिया से भी थे जो प्रत्यक्षतः मौर्योत्तर काल तक चलते रहे। जातक और मिलिंदपन्हों उन व्यापारियों की चर्चा करते हैं जिन्होंने सुवर्णद्वीप (मलेशिया, थाईलैंड और इंडोनेशिया) तथा सुवर्णभूमि (म्यांमार) की विकट समुद्री यात्रा तय की। इस क्षेत्र में पुरातात्विक खोजों में इस आपसी लेन-देन की पुष्टि होती है। दक्षिण-पूर्व एशिया से भारत में आयातित होने वाली वस्तुओं में सोना, टिन, दाल चीनी और लौंग जैसे मसाले, चंदन और कपूर शामिल थे। बदले में भारत उन्हें सूती वस्त्र, कीमती चीनी मालाएँ और मृण्पात्र भेजता था।

यहाँ यह उल्लेख है कि सामाजिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान भारत के विश्व के साथ वाणिज्यिक सम्पर्कों के साथ-साथ चलते रहे। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, उपमहाद्वीप का उत्तर-पश्चिम भाग सांस्कृतिक दोराहे पर था जहाँ यूनानियों, फारसियों और मंगोलियों का घालमेल और भारतीय परंपराओं के साथ मेल-जोल हुआ था। चीन के साथ मुख्य आदान-प्रदान बौद्ध सिद्धांतों, ग्रंथों और अवशेषों से जुड़ा था और मठवासी तथा यात्री दोनों देशों में आते-जाते थे और यह सिलसिला कई शताब्दियों तक चलता रहा। चीन से ही यह धर्म पूरब में जापान और कोरिया तक पहुँचा और इसमें कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। आरंभ में दक्षिण-पूर्व एशिया को लंबे समय भारतीय लोगों के उपनिवेश के रूप में देखा जाता रहा, क्योंकि आरंभिक काल में वहाँ जो राज्य कायम हुए उनके नाम, आचरण, धार्मिक सम्बंध और अनुष्ठान (जैसा कि उनके अभिलेखों में देखे जा सकते हैं) संस्कृत में और ब्राह्मणीय हैं, जबकि मूर्तिकला और स्थापत्य दोनों हिंदू और बौद्ध से सम्बंधित हैं। फिर भी, अब यह स्पष्ट हो गया है कि ये सब सांस्कृतिक आदान-प्रदान के साक्ष्य हैं, न कि भारतीयों की प्रत्यक्ष भूमिका और उपस्थिति के।

13.4 सामाजिक इतिहास

ऊपर में वर्णित गहन राजनीतिक और आर्थिक घटनाक्रम के सामाजिक निहितार्थ निश्चय ही महत्वपूर्ण थे। ईसा की छठी सदी पूर्व में जाति, वर्ग और लिंग के धार्मिक पर जो स्तरीकरण हुआ था वह और गहरा और व्यापक हो गया।

13.4.1 जाति और वर्ण व्यवस्था

इस अवधि के धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में चार वर्ण और चार आश्रम (चतुर्वर्णाश्रम धर्म) ब्राह्मणवादी विचारधारा के धार्मिक-स्तंभ बन गए। जाति-व्यवस्था के मुख्य लक्षण थे सजातीय विवाह और वंशानुगत पेशे की प्रधानता। जाति और व्यवसाय के स्थानीकरण के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। एक ही जाति और पेशे के लोग अपनी अलग बस्तियों अथवा बस्तियों के पृथक भाग में रहते थे।

शुचिता-प्रदूषण और श्रेणीबद्धता के नियम आहार देने और पाने पर पाबंदियाँ लगाते थे। एक छोर पर ब्राह्मण तो दूसरे छोर पर जाति बहिष्कृत चंडाल। इस काल के विष्णुधर्मसूत्र में 'अस्पृश्य' शब्द का उल्लेख हुआ है। इसका अर्थ था चंडाल कहे जाने वाले सामाजिक समुदाय का पूर्ण पृथक्करण। इन चंडालों में शव ले जाने वाले, दाहकर्ता, जल्लाद, मेहतर, व्याधा इत्यादि शामिल थे। मनुस्मृति के अनुसार, वे गाँव या नगर से बाहर रहते थे और अन्य लोगों की थाली में खाना नहीं खा सकते थे।

कई अन्य समुदाय भी अन्त्यज की श्रेणी में थे। इसके साथ ही यवन और शक जैसे बाहरी लोगों को शंकर-वर्ण, जातियों के मिश्रण से उत्पन्न, अथवा वात्य (अवक्रमित) क्षत्रिय कहकर परंपरागत सामाजिक संरचना के भीतर शामिल कर लिया गया था। इससे जाहिर होता है कि सामाजिक बहिष्करण और समावेशन के सिद्धांत साथ-साथ चल रहे थे।

13.4.2 महिलाओं की स्थिति

आर्थिक दृष्टि से ग्राम दो प्रकार के थे- मिले-जुले गाँव तथा उपनगरीय गाँव। प्रथम प्रकार के गाँव वैसे थे जहाँ जाति और वर्ग आधारित संरचना के अनुरक्षण और स्थायीकरण की आवश्यकता से ही जुड़ी पितृसत्ता इस अवधि में और सुदृढ़ हुई। इस तंत्र में नारियों की हीनता-अधीनता बढ़ी और उनकी जनन-क्षमता नियंत्रित की जाने लगी। पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों की प्रधानता चलती रही। नारियों को धार्मिक और ऐहिक ज्ञान से दूर रखा जाने लगा। संपन्न वर्ग की महिलाएँ घरेलू मामलों तक सीमित होती गईं और अपने पुरुषों पर उनकी निर्भरता बढ़ती गई। उनके लिए पतिव्रत पर विशेष जोर दिया गया और इसके लिए एक ओर बाल-विवाह को आवश्यक तो दूसरी ओर विधवाओं पर तरह-तरह की वर्जनाएँ लगा दी गईं।

ग्रंथों से यह भी संकेत मिलता है कि नारियों को संपत्ति माना जाता था और उनके साथ शुद्र के समान व्यवहार किया जाता था। उन्हें विरासत में संपत्ति पाने के अधिकार से वंचित रखा गया। यह उत्तराधिकार पिता के बाद पुत्र को प्राप्त था। फिर भी इस अवधि के विधि निर्माता विवाहित नारी को दुलहन के रूप में मिले उपहारों पर, जिसे स्त्रीधन कहा जाता था, किसी हद तक अधिकार स्वीकार करते थे। इस सम्बंध में यह उल्लेख्य है कि बौद्ध स्थलों के लिए दाताओं के रूप में अनेक नारियों की चर्चा की गई है। इससे संकेत मिलता है कि कुछ नारियों को अपने घर-परिवार के आर्थिक संसधानों पर किसी हद तक दखल अवश्य होता था।

13.4.3 धार्मिक अनुष्ठान

मौर्योत्तरकाल में व्यक्ति, परिवार और समाज के स्तर पर धार्मिक अनुष्ठानों की भूमिका बढ़ रही थी। संस्कारों के नाम से ज्ञात ये अनुष्ठान जीवन के विभिन्न चरणों को चिह्नित करने के लिए संपन्न किए जाते थे- जैसे, गर्भाधान, उपनयन,

विवाह और अन्त्येष्टि। इनके अतिरिक्त उच्च जाति के गृहस्थों के लिए पंचमहायज्ञ नामक पंच सरल अनुष्ठान निर्धारित किए गए थे जिनमें पितृयज्ञ (पूर्वजों को तर्पण) दैवयज्ञ (यज्ञाग्नि में आहुति) और भूतयज्ञ (सभी प्राणियों को अर्पण) शामिल थे। ये संस्कार और महायज्ञ व्यक्ति के जीवन को नियमित करने और सामान्य विश्वासों और आचरणों के द्वारा समाज को एकसूत्र में बांधे रखने के तरीके थे।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. सही-गलत बताएँ:

- (i) मौर्योत्तर आर्थिक परिदृश्य की एक अनूठी विशेषता थी शिल्पकारिता में उल्लेखनीय प्रगति।
- (ii) राजकीय भूमि के अनुदान का आरंभिक अभिलेखीय प्रमाण सातवाहन साम्राज्य से मिला है।
- (iii) सीमावर्ती व्यापार जैसे सामानों का होता था जो भारत में बनाए जाते थे और अन्य देशों व महादेशों तक निर्यातित किए जाते थे।
- (iv) मौर्योत्तर काल में शिल्पी-संघों की संख्या और क्रियाकलाप में भारी वृद्धि हुई।
- (v) बौद्ध धर्म चीन से पूरब में जापान और कोरिया तक पहुँचा और इसमें कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. मौर्योत्तर काल की जाति और वर्ण व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण दें।

13.5 सांस्कृतिक उत्थान

मौर्योत्तर काल एक ओर जहाँ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक इतिहास के चरमोत्कर्ष का काल था, वहीं संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक मौलिक प्रवृत्तियों के प्रवर्तन का काल भी। यहाँ हम इस काल के मुख्य घटनाक्रमों और निर्देशों की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

13.5.1 धर्म

मौर्योत्तर काल में जैसे धार्मिक विश्वास और आचरण-सम्बन्धी सिद्धांतों का अभ्युदय हुआ जिन्हें आज हम हिंदू धर्म के नाम से जानते हैं। इन्हें भक्ति और पूजा की शब्दावली में सारांशबद्ध किया जा सकता है।

भक्ति किसी निर्गुण-निराकार ब्रह्म अथवा यज्ञ के स्थान पर किसी विशिष्ट वैयक्तिक ईश्वर के प्रति अनुरक्ति का सूचक है। इसकी अभिव्यक्ति तीन मुख्य ईश्वरवादी मतों- शिव, विष्णु और शक्ति-की पूजा-अर्चना के रूप में हुई। जैसे ये देवता नए नहीं थे, लेकिन इस काल में जिस रूप में उन्हें प्रमुखता मिली, उनके प्रति आनुष्ठानिक कृत्यों का निष्पादन किया गया और उनके ईर्द-गिर्द जिस रूप में मिथकों के ताने-बाने बुने गए वह निश्चय ही अभिनव और चमत्कारिक था। ये तीनों देवी-देवता स्वतंत्र उपासना-पद्धतियों के केंद्र में होने के बावजूद एक सामान्य देवकुल के अंग थे और इनकी साथ-साथ पूजा से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि लोग एक सर्वोच्च ईश्वर में विश्वास के साथ ही अन्य देवताओं के अस्तित्व में भी विश्वास करते थे। वास्तव में, ये तीनों देवता (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े थे और एक दूसरे के कार्य को पूरा करने में सहायक थे। उदाहरणस्वरूप, इन त्रिदेवों में ब्रह्म को स्रष्टा, विष्णु को पालक और शिव को संहारक माना जाता है और शक्ति भी अपने विभिन्न रूपों (दुर्गा, काली, भद्रकाली, लक्ष्मी, इत्यादि) में ये भूमिकाएँ निभाती है और वह इन देवों की सहभागिनी मानी जाती है।

इन उपासना-पद्धतियों की एक अन्य विशेषता है इनका समन्वयवादी रूप में विकसित होना और अनेक आनुषंगिक पंथों को अपने साथे लें लेकर उन्हें आत्मसात कर लेना। उदाहरणस्वरूप, दशावतार की अवधारणा विष्णु की पूजा को

अन्य देश की पूजा-पद्धतियों से जोड़ती है। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो अवैदिक और कुल चिह्नों (टोटम) से उद्भूत प्रतीत होते हैं, जैसे वराह और मत्स्य के अवतार। इस काल तक वासुदेव-कृष्ण का अवतार सर्वाधिक लोकप्रिय बन गया था। उन्हें भगवद्-गीता का उपदेशक माना जाता है। यह गीता, जो हिंदू धर्मशास्त्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है, इसी काल की है।

इस काल और उसके बाद की अवधि में पूजा धर्म की प्रमुख विशेषता बन गई। पूजानुष्ठान में पुष्प, फल और कपूर देवता को अर्पित किए जाते हैं। अनुष्ठान के इन नए रूप की दो स्वाभाविक विधियाँ थीं- मूर्तिपूजा और धर्मस्थलों/मंदिरों में पूजा-अर्चना। इस काल में इन दोनों विधियों के साक्ष्य मिलते हैं। इनसे पंथों के बढ़ते संस्थानीकरण और स्थायित्व का पता चलता है। शिव की पूजा उनके लिंग रूप में होती थी। ईसा पूर्व दूसरी सदी से मथुरा में शिवलिंग और मानव के रूप में शिव के चित्रण के आरंभिक उदाहरण मिलते हैं। विष्णु, वासुदेव कृष्ण और उनके भाई बलराम और बहन एकनांशा की मूर्तियों में मध्य भारत में ईसा की आरंभिक शताब्दियों से संख्या और विविधता दोनों दृष्टियों से बढ़ोतरी होने लगती है, लेकिन उनकी आद्य मूर्तियाँ ईसा पूर्व दूसरी सदी से आइकगानोम (अफगानिस्तान) के सिक्कों में मिलती हैं। प्रस्तर से बनी मूर्तियों के आद्य अवशेष, जो विष्णु के हैं बेसनगर (मध्य प्रदेश) और नागारी (राजस्थान) में मिले हैं, भी ईसा पूर्व दूसरी सदी से ही हैं। इस अवधि की सबसे प्रभावशाली मूर्ति शक्ति की है जो मथुरा में पत्थर की पटिया पर बनी दुर्गा-महिषासुर मर्दिनी की है और उसकी अवधि ईसा पूर्व पहली सदी से ईस्वी सन की पहली सदी के बीच की है।

यह भी कम रोचक नहीं है कि इस अवधि में बौद्ध धर्म में भी ऐसे ही रूपांतरण हुए। दूसरे शब्दों में, भक्तिवाद का समावेश इस धर्म में भी पूरे वेग से हुआ और उसे महायान की संज्ञा दी गई जो पुराने रूढ़िवादी और कठोर हीनयान का विरोधी था। हीनयान से यह इस अर्थ में पूर्णतः भिन्न था कि इसका सर्वोच्च लक्ष्य अपने लिए निर्वाण प्राप्त करना और जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाना नहीं था, बल्कि ऐसा बोधिसत्त्व बनना था जिसने स्वयं पूर्णता तो प्राप्त कर ली है, लेकिन संसार में युगों तक रहकर दूसरों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए निर्वाण का परित्याग कर दिया है। महाकरुणा और सार्विक परोपकार बोधिसत्त्व के आदर्श के मूल तत्त्व हैं। इस आदर्श में अद्भुत आकर्षण था और इसने अत्यंत उदात्त और दयालु बोधिसत्त्व प्रति भक्ति और आत्म-समर्पण के प्रबल भाव पैदा किए।

इन धारणाओं की परिणति बुद्ध और बोधिसत्त्व के दैवीकरण में हुई और परिणामस्वरूप उनकी मूर्तियों की पूजा की जाने लगी। यह उस पुराने विश्वास से बिलकुल भिन्न था जिसमें बुद्ध की पूजा सिर्फ बोधिवृक्ष जैसे प्रतीकों के माध्यम से की जाती थी। महायानवाद को कनिष्ठ का प्रबल संरक्षण मिला। उसने कश्मीर में एक महापरिषद का गठन किया और स्तूपों तथा चैत्यों, जो मौर्योत्तर काल में बड़े पैमाने पर निर्मित हुए, में पूजा-अर्चना को लोकप्रिय बना दिया।

एक अन्य उल्लेखनीय फर्क यह पड़ा कि बौद्ध साहित्य में संस्कृत का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा और एक ऐसे बौद्ध देवकुल तथा मिथक शास्त्र का विकास हुआ जिसमें पांच ध्यानी बुद्ध और बोधिसत्त्व जैसे, मैत्रेय, अवलोकितेश्वर और मंजु श्री तथा तारा नाम की सहगामिनी- शामिल थे। महायान संप्रदाय के बड़े दार्शनिकों में नागार्जुन ईसा की दूसरी सदी और वसुबंधु (ईसा की चौथी सदी) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जैन धर्म के साथ भी यही हुआ और वह दिगंबर तथा श्वेतांबर नामक दो संप्रदायों में बंट गया। दोनों के बीच मुख्य विभेद मठवासीय आचार को लेकर था। दिगंबर मठवासी पूर्ण परित्याग के हिमायती थे। वे वस्त्रधारण नहीं करते थे और नंगे घूमते थे, जबकि श्वेतांबर श्वेत वस्त्र धारण करते थे। दिगंबर भिक्षा-पात्र लेकर नहीं चलते थे, अपितु अजलि में ही भिक्षा ग्रहण करते थे, जबकि श्वेतांबर भिक्षा-पात्र में भिक्षा ग्रहण करते और खाते थे। श्वेतांबर यह भी मानते थे कि

औरतें मुक्ति प्राप्त कर करती हैं, जबकि दिगंबर ऐसा नहीं मानते थे। अन्ततोगत्वा श्वेतांबरों की प्रधानता पश्चिम भारत में हो गई और दिगंबरों की दक्षिण भारत में। उन्हें संपन्न राजनीतिक और सामाजिक विशिष्ट-वर्गों का संरक्षण प्राप्त हुआ।

मौर्योत्तर काल में मंदिर-संस्कृति और उससे संबद्ध अनुष्ठानों का विकास हुआ। यह गौर करने लायक तथ्य है कि इस संस्कृति में किसी मध्यस्थ मठवासीया पुरोहित वर्ग का समावेश नहीं था। ईसा के 200 वर्ष पूर्व से कंकाली टीला (मथुरा) जैसे स्थलों से जिनों और तीर्थकरों की अनेक मूर्तियाँ पाई गई हैं, जबकि उड़ीसा के उदयगिरि और खांडगिरि में मठचर्चा के केंद्र थे।

13.5.2 साहित्य

ईसा की दूसरी सदी पूर्व से ईसवी सन की तीसरी सदी के बीच विपुल साहित्य-विशेषकर धार्मिक, धर्म-निरपेक्ष, तकनीकी और सर्जनात्मक की रचना हुई। ये पांच सौ वर्ष महाकाव्यों की रचना की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इसी अवधि में महाभारत (ईसा पूर्व 400 वर्ष से 400 ईसवी सन् के बीच) और रामायण (ईसा पूर्व 500 वर्ष से 300 ईसवी सन के बीच) लिखे गए। इसी काल में धर्मशास्त्र (ई.पू. 500-200) सहित अन्य कानून की किताबों का संकलन तैयार हुआ जो धर्मस्मृति कहलाया। मनुस्मृति, नारदस्मृति, यजनावलक्यस्मृति ने वर्णाश्रमधर्म के मूलभूत सिद्धांतों को प्रतिष्ठापित किया जो सदियों तक ब्राह्मण समाज का आधार बना रहा।

मौर्योत्तर काल में ही आरंभिक भारतीय सनातन दर्शन के शास्त्रीय स्कूल के अनेक दार्शनिक ग्रंथों की रचना हुई। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में रचित जैमिनी के 'मीमांसासूत्र' ने वैदिक अनुष्ठानों को धर्म का मूल रूप और मुक्ति का मार्ग माना। बादरायण ने लगभग उसी समय 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की। यह वेदांत के आरंभिक मत का मूल ग्रंथ है जो ब्रह्म और आत्मा की प्रकृति की मीमांसा करता है। कणाद द्वारा ईसा पूर्व दूसरी सदी और ईसा की प्रथम सदी के बीच रचित 'वैशेषिकसूत्र' अनेकवादी वस्तुवाद का प्रतिपादन करता है, अर्थात् यह विश्व के विविध पदार्थों के विशेष लक्षणों की व्याख्या करता है।

ईसा की प्रथम शताब्दी में रचित गौतम का 'न्यायसूत्र' तर्क और विवेचन की क्रमिक विधि का विश्लेषण करता है। ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' ईसा की चौथी-पाँचवीं सदी की रचना है, लेकिन इसका दार्शनिक सिद्धांत उससे बहुत पहले का है। यह पुरुष (आत्मा) और प्रकृति (पदार्थ) की अवधारणाओं पर आधारित है और मानता है कि दोनों के मेल से जगत की उत्पत्ति होती है और दोनों के बीच संबंध-विच्छेद से पुरुष को मुक्ति मिलती है इसी अवधि में पतंजलि ने 'योगसूत्र' लिखा जिसमें योग सम्बन्धी विचारों और क्रियाओं का विवरण मिलता है। इसमें अनेक शारीरिक और मानसिक अभ्यास बतलाए गए हैं जिनके जरिए चित्तवृत्ति निरोध होता है और इस चित्तवृत्ति निरोध से परम शांति और मुक्ति की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त सारी रचनाएँ संस्कृत में हैं। बौद्ध मत अथवा बुद्ध के पालि और प्राकृत में लिखे गए जीवन वृत्त भी इसी काल के हैं। उदाहरणार्थ 'जातक कथाएं' (ईसा पूर्व तीन सौ वर्ष से ईसा पूर्व 100 वर्ष के बीच), 'निदान कथा' और 'मिलिंद पंहो' (ईसा के 100 वर्ष पूर्व से 100 ई. सन के बीच)। लेकिन हीनयान ग्रंथ 'महावस्तु' महायानियों के 'ललित विस्तर' (ई. सन 100-200 के बीच) की भांति प्राकृत-संस्कृत की मिली-जुली भाषा में है, जबकि अशोक के जीवन पर लिखित 'अवदानशतक' सिर्फ संस्कृत में है।

उपर्युक्त धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथों के अतिरिक्त इस काल में कई तकनीकी ग्रंथों की भी रचना की गई। इनमें पाणिनी के व्याकरण पर लिखी गई कृति पतंजलि का 'महाभाष्य' और छन्द-रचना पर पिंगल लिखित 'छंदसूत्र' प्रमुख हैं। मौर्यकाल की शासन-कला पर लिखित पुस्तक 'अर्थशास्त्र' के कुछ अंश भी मौर्योत्तर काल में ही लिखे गए।

वात्स्यायन का यौन सुख पर लिखित ग्रंथ 'कामसूत्र' इस काल के अंत की रचना है। इसी प्रकार, चिकित्सा शास्त्र के दो प्रसिद्ध ग्रंथ 'चरक संहिता' और 'सुश्रूत संहिता' इसी अवधि में लिखे गए, हालांकि बाद में उनमें कुछ और जोड़े गए। इन दोनों ग्रंथों में मानव मनोविज्ञान के साथ-साथ पशु मनोविज्ञान, रोगों के निदान और उपचार के संबंध में जिस सुविज्ञता और परिशुद्धता की झलक मिलती है वह विस्मयकारी है।

अंततः मौर्योत्तर काल में उच्च कोटि के काव्य अथवा सौंदर्यबोधक सर्जनात्मक साहित्य, जिनमें पद्य, नाटक, उपन्यास और जीवनचरित शामिल हैं, रचे गए। अश्वघोष द्वारा संस्कृत में रचित 'बुद्धचरितम्' एवं 'सौंदरानंदम्' ईसा की प्रथम सदी की कृतियाँ हैं (अश्वघोष का संरक्षक कनिष्ठ था), जबकि भास के 13 नाटक-स्वप्नवासवदत्तम्, कर्णमारम्, अविमारक, इत्यादि-भी ईसा की पहली से तीसरी सदी के बीच की रचनाएँ हैं। प्राकृत में लिखा शृंगार-काव्य, 'घाट सत्तसई' सातवाहन नृप, हाला, की कृति बताई जाती है। काव्य लेखन का सनातन दौर गुप्त काल में भी जारी रहा।

13.5.3 कला और स्थापत्य

मौर्योत्तर काल की कला की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं: (i) यह संरचनात्मक कला है तात्पर्य यह कि यह कला मूलतः तोरणा द्वारों, जंगलों और स्तूपों, चैत्यों, विहारों और मंदिरों के अग्रभागों की वास्तुशिल्पीय संरचनाएँ हैं, (ii) मुख्य रूप से यह कला आख्यानात्मक है जिसमें देवी और अर्ध-देवी प्राणियों से संबंधित मिथकों और दंतकथाओं का वर्णन मिलता है और इसमें चिन्हों एवं प्रतीकों का उपयोग किया गया है, (iii) मौर्यकालीन कला तो राजकीय और शाही थी, किंतु मौर्योत्तर कला आमजनों को प्रतिबिंबित करने वाली कला, (iv) इसकी प्रकृति पूर्णतः धार्मिक, मुख्यतः बौद्ध धर्म से संबंधित थी।

फिर भी, यह उल्लेख्य है कि आरंभिक ब्राह्मणपंथी प्रस्तर निर्मित मंदिर और मूर्तिकला भी इसी इसी अवधि की हैं। ईसा पूर्व तीसरी सदी से ही विदिशा (बेसनगर) में एक विष्णुमंदिर था। यह मंदिर प्रसिद्ध हेलियोडोरस स्तंभ, जो हेलियोडोरस नामक ग्रीक राजदूत द्वारा विष्णु को समर्पित गरुड़ स्तंभ था, के पड़ोस में था। नागरी में विष्णुतीर्थ-मंदिर (ईसा पूर्व तीसरी सदी), अत्रांजिश्चर में लक्ष्मी मंदिर (200-50 ई. पूर्व) सौरव में दुर्गा मंदिर (100-200 ई. सन) और नागार्जुन क्रोड़ा में एक विष्णुमंदिर तथा पांच शिवमंदिरों (400 ई. सन) के अवशेष पाए जाते हैं। चतुर्भुज विष्णु, कृष्ण-बलराम-एकानांशा त्रय, गोवर्धन-कृष्ण, शिवलिंग और महिषासुरमा मर्दिनी की प्रस्तर निर्मित अनेक मूर्तियों एवं उभार अनेक स्थलों से प्राप्त हुए हैं।

मौर्योत्तर काल बौद्ध वास्तुकला के उत्थान का काल है। इस काल में उपमहाद्वीप के प्रत्येक भाग में विभिन्न आकारों वाले स्तूप (बुद्ध और विशिष्ट भिक्षुओं के अवशेष-संरक्षण हेतु बनाया गया गुंबदनुमा अंत्येष्टि टीला), चैत्य और विहार बड़ी संख्या में बनाए गए।

उत्तर-पश्चिम में एक वृहदाकार मठवासीय समूह तख्त-ए-भाई में मिला है, जबकि तक्षशिला में विशाल धर्मराजि का स्तूप समेत अनेक स्तूप और चैत्य प्राप्त हुए हैं। मध्य भारत में सांची और भारहुत के स्तूप सर्वज्ञात हैं। ये प्रस्तर-निर्मित प्रदक्षिणपंथ, नींव पर दो सोपान पंक्तियों, धरातल पर प्रस्तर की वेदिकाओं और शिखर पर प्रस्तर-छत्र से सज्जित हैं। स्तूप का अहाता प्रस्तर-निर्मित जंगले से घिरा है। मूर्तिकला सम्बन्धी सजावट इन सभी भागों में मिलती है। इनमें जातकों के कथात्मक दृश्यों के साथ-साथ त्रिरत्न के प्रतीक और यक्षों एवं नागों की आकृतियाँ मिलती हैं।

इनके अतिरिक्त पश्चिमी घाटों में भज, पितलखोरा, नासिक, कार्ले, कन्हेरी और बेदसा जैसे स्थलों पर शैल काटकर बनाई गई गुफाएँ हैं। इनमें चैत्य, जो आरंभ में शैल-मुख के समानांतर काटकर बनाए गए और जो भीतर के पूजा-पात्र की ओर सीधे तौर पर अभिमुख हैं, के साथ-साथ ऐसे विहार शामिल हैं जिनमें कुछ दो मंजिला हैं और जिनके केंद्रीय

सभा-भवन के चारों ओर कोष्ठिकाएं बनी हैं और इन बिहारों में मठवासियों के लिए प्रस्तर काट कर बनाए गए बिस्तर और तकिए हैं। आंध्र में अनेक महत्त्वपूर्ण बौद्ध प्रतिष्ठान पाए गए हैं, जैसे, अमरावती (इसका महाचैत्य अब लुप्त हो गया है), जागय पेटा और नागाजर्गुन कोंडा में।

इस अवधि के अधिकांश बौद्ध स्थलों पर प्राप्त विपुल शिलालेखों से पता चलता है कि उन्हें न सिर्फ राजकीय सहायता प्राप्त थी, अपितु कारीगर, सौदागर, शिल्पीसंघ, यवन, मठवासी और मठवासिनी जैसे आम लोग भी इसमें अंशदान करते थे।

इस संबंध में उड़ीसा के उदयगिरि और खांडगिरि में स्थित जैन गुफाएँ भी उल्लेख्य हैं। ये गुफाएँ सिर्फ छोटी-कड़ी और अनलंकृत मठवासीय कोष्ठिकाएँ हैं जो बालुकाश्म को काटकर बनाई गई हैं। कहीं-कहीं इनके अग्रभाग में सजावट भी मिलती है। इन्हें कलिंग के चेदियों का संरक्षण प्राप्त था।

जहाँ तक प्रस्तर मूर्तिकला का संबंध है, मौर्योत्तर काल में दो महत्त्वपूर्ण संप्रदाय विकसित हुए। ईसा की पहली से पांचवी शताब्दी तक गांधार संप्रदाय फलता-फूलता रहा। यह संप्रदाय नीले स्तरित प्रस्तर और बाद में चूने का पलस्तर उपयोग करता था। इसकी विषय-वस्तु भारतीय, मुख्यतः बौद्ध थी, लेकिन इसकी शैली स्पष्ट ग्रीक-रोमन प्रभाव दर्शाती थी। उदाहरणस्वरूप, बुद्ध की खड़ी और बैठी दोनों प्रकार की प्रतिमाओं के कायिक स्वरूप में प्रकृतिवाद-सुगठित शरीर, वस्त्रों में त्रिआयामीत हैं, तीखे नाक-नकश और लहरेदार अथवा घुंघराले बाल-परिलक्षित होता है। इस संप्रदाय के द्वारा जातक कथाओं के दृश्य भी चित्रित किए गए जिनमें सिकरी, पाकिस्तान की प्रसिद्ध उपवासरत सिद्धार्थ की प्रतिमा, जो राजकुमार की आश्चर्यजनक कृशकायता दर्शाती है, शामिल है।

मथुरा संप्रदाय कुषाण शासन में पल्लवित-पुष्पित हुआ। स्थानीय लाल, चितकबरे बालुकाश्म का उपयोग इसकी खास विशेषता थी। बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ स्पष्टतः देशी शैली में हैं जो भारी-भरकम, मांसल काया, शरीर से चिपके महीन वस्त्र, रुक्ष मुस्कान और मुंडित कपाल दर्शाती हैं। इस संप्रदाय की बहुसंख्यक चित्र-सामग्रियों में जातक कथाएँ, हिंदू और जैन मूर्तियाँ, प्रणयरत जोड़े, यक्ष-यक्षिणियाँ शामिल हैं।

मौर्योत्तर काल में इन सारे सांस्कृतिक प्रयासों के विस्फोट को समझने के लिए आवश्यक है कि हम उन्हें राजनीतिक सत्ता के केंद्रों की बहुलता, विकासशील अर्थ-व्यवस्था, संपन्न होते उर्ध्वगामी सामाजिक समुदायों, धार्मिक संप्रदायों के संस्थानीकरण और विदेशी परंपराओं के साथ आदान-प्रदान की पृष्ठभूमि में देखें।

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. रिक्त स्थान भरें:

- (i) किसी किसी विशिष्ट वैयक्तिक ईष्टदेव के प्रति अनुरक्ति का द्योतक है।
- (ii) वासुदेव कृष्ण को का उपदेश माना जाता है।
- (iii) बौद्ध धर्म की शाखा का सर्वोच्च लक्ष्य अपने लिए निर्वाण प्राप्त करना और जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाना नहीं था है।
- (iv) ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में जैमिनी रचित ने वैदिक अनुष्ठानों को धर्म का मूल रूप और मुक्ति का मार्ग माना।
- (v) बुद्ध और विशिष्ट भिक्षुओं के अवशेष-संरक्षण हेतु बनाया गया गुंबदनुमा अंत्येष्टि टीला कहलाया।

ख. संक्षिप्त टिप्पणी:

- (i) इंडो-ग्रीक
- (ii) सातवाहन
- (iii) कुषाण

ग. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न:

- (i) ईसा पूर्व 200 से 300 ईस्वी काल के बाह्य व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के प्रभावों की चर्चा करें।
- (ii) मौर्योत्तर काल की कला एवं स्थापत्य की विवेचना करें।

13.7 सारांश

- मौर्य साम्राज्य के हास और विघटन के बाद पूर्वी व मध्य भारत और दक्कन में अनेक छोटी-छोटी क्षेत्रीय शक्तियों जैसे शुंग, कुषाण और सातवाहन का उदय हुआ।
- मौर्यो के बाद मध्य एशिया से आई कई शक्तियों जैसे ग्रीक, शक, पहलव और कुषाण ने उत्तर भारत पर राज्य किया।
- साहित्य और स्थापत्य से संकेत मिलता है कि ईसा पूर्व 200 से 300 ईस्वी पूरे उपमहाद्वीप में एक शहरी समृद्धि की अवधि थी। इस दौरान कृषि, व्यापार और शिल्प-उत्पादन में काफी विकास हुआ।
- विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक विकास के सामाजिक निहितार्थों में जाति, वर्ण और लिंग आधारित अलगाव एवं स्तरीकरण शामिल हैं जिसकी शुरुआत छठी सदी में हुई।
- मौर्योत्तरकालीन समाज में बड़े पैमाने पर व्यक्तिगत और घरेलु जीवन में धार्मिक अनुष्ठानों में वृद्धि देखी जा सकती है।

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. (i)-c, (ii)-d, (iii)-e, (iv)-a, (v)-b

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. (i) सही (ii) सही (iii) गलत (iv) सही (v) सही

ख. देखें खंड 13.4.1

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. (i) भक्ति (ii) भगवद्गीता (iii) महायान (iv) मीमांसासूत्र (v) स्तूप

ख. संक्षिप्त टिप्पणी:

(i) देखें खंड 13.2.3 (ii) देखें खंड 13.2 (iii) देखें खंड 13.2.3

ग. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न:

(i) देखें खंड 13.3.5 (ii) देखें खंड 13.5.3

पाठ 14

संगम युग

पाठ्य-रूपरेखा

- 14.0 उद्देश्य
- 14.1 प्रस्तावना
- 014.2 'संगम' का आशय
- 14.3 कालक्रम
- 14.4 तीन संगमों की परंपरा
- 14.5 संगम साहित्य-निकाय
- 14.6 राजव्यवस्था
 - 14.6.1 राजत्व
 - 14.6.2 सरदारगण
 - 14.6.3 प्रशासन
 - 14.6.4 प्रतिरक्षा
- 14.7 अर्थव्यवस्था
 - 14.7.1 कृषि
 - 14.7.2 उद्योग
 - 14.7.3 व्यापार
- 14.8 समाज
 - 14.8.1 सामाजिक संरचना
 - 14.8.2 नारी
 - 14.8.3 वस्त्र, आभूषण और फैशन
 - 14.8.4 आवास
 - 14.8.5 भोजन और पेय
 - 14.8.6 मनोरंजन
- 14.9 धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान
- 14.10 उपसंहार
- 14.11 सारांश

14.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन आपको निम्नलिखित विषयों में सक्षम बनाता है:

- संगम कालीन भाषा-साहित्य विकास के स्तर की पड़ताल
- इस काल के साहित्यिक कृतियों का वर्गीकरण
- संगम साहित्य में प्रतिबिंबित समाज की राजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था, और सामाजिक विकास के विभिन्न स्तरों की व्याख्या

14.1 प्रस्तावना

इतिहास और भारतीय विद्या-विशारद तमिलों के 'चिर-प्रतिष्ठित युग' (classical age) की तुलना ग्रीस और रोम के गौरव-ग्रंथों तथा बाद के यूरोपीय पुनर्जागरण काल से करते हैं। कुछ विद्वान तो संगम युग को तमिलों का 'स्वर्ण युग' मानते हैं। निश्चय ही तमिलकम (प्राचीन तमिल क्षेत्र जिसमें मुख्यतः आधुनिक तमिलनाडु, केरल और आंध्र-प्रदेश के क्षेत्र शामिल थे) के इतिहास में संगम युग अनूठा युग है। अनेक खोजें और खोदे गए स्थलों से प्राप्त पुरातात्विक स्रोत संगम युग के लोगों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। लेकिन इस संबंध में सबसे महत्वपूर्ण जानकारी उन बहुमूल्य साहित्यिक स्रोतों से होती है जो दक्षिण भारत में अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। दूसरे शब्दों में, संगम युग के अध्ययन का मुख्य स्रोत है संगम साहित्य।

14.1 'संगम' का आशय

'संगम' पद का अर्थ है 'सम्मिलन' अर्थात् एक साथ मिलना। लेकिन, आरंभिक दक्षिण भारतीय इतिहास के संदर्भ में इस पद का तात्पर्य ऐसी विद्वत परिषद से है जो साहित्य और ललित कलाओं के बड़े शौकीन थे और जिन्हें पांड्य राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। संगम कवियों का स्वैच्छिक संगठन था। यह एक गोलमेज जैसे सम्मेलन था जो सिर्फ प्रामाणिक कवि को ही शामिल होने की अनुमति देता था। संगम कवियों से समाविष्ट इस विद्वत परिषद उच्च कोटि की साहित्यिक कृतियों की रचना की।

14.2 कालक्रम

संगम युग की तिथि के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। इसका मुख्य कारण है संगम युग के अध्ययन हेतु बहुमूल्य ऐतिहासिक साक्ष्य स्वरूप संगम कृतियों के काल के संबंध में विद्वानों में मतैक्य का अभाव। संगम साहित्य की रचना के आधार पर के.एन. शास्त्री संगम युग की अवधि 100 ई. सन से 250 ई. सन तक मानते हैं। पारंपरिक तौर पर 'तोल्काप्पियम' विद्यमान तमिल कृतियों में सबसे प्राचीन है। एम. अरोकिया स्वामी मानते हैं कि चूंकि 'तोल्काप्पियम' के लेखक तोल्काप्पियर ईसा की चौथी अथवा तीसरी शताब्दी पूर्व में थे, अतः इस कृति की अवधि वही मानी जा सकती है। पुरातात्विक सामग्रियों द्वारा साहित्यिक स्रोतों के पुष्टीकरण से जाहिर होता है कि कालक्रम की दृष्टि से संगम युग मोटे तौर पर ईसा पूर्व तीसरी सदी से ईस्वी सन की तीसरी सदी, लगभग 600 वर्षों की अवधि है।

14.4 तीन संगमों की परंपरा

तीन संगमों के सिद्धांत से प्रमाणित होता है कि वे समकालीन न होकर अनुक्रमिक थे। इरैयानार अहप्पोरुल के परंपरागत विवरण के अनुसार तीन संगम (I, II और III) आयोजित किए गए जो नियमित अंतराल पर 9990 वर्ष तक फूलते-फलते रहे। इनमें 8598 विद्वान शरीक हुए। संत अगस्त्यार इसके प्रवर्तक थे। अहप्पोरुल की टीका से उनकी अनुक्रमिक व्यवस्था और उनके अंतरालों के बीच के जल-प्लावनों की भी जानकारी मिलती है। ये संगम अथवा विद्वत-परिषदें 197 पांड्य राजाओं द्वारा संरक्षित थीं। परंपरागत मतानुसार तीन अनुक्रमिक संगमों में प्रथम दो प्रागैतिहासिक काल के हैं। सभी तीन संगम पांड्यों की राजधानी में आयोजित किए गए। चूंकि राजधानी समय-समय पर बदलती रहती थी, अतः प्रथम संगम का मुख्यालय पुराना मदुरै था और दूसरा संगम कपाटपुरम में आयोजित किया गया। अनुक्रमिक जल प्लावनों में ये दोनों केंद्र समुद्र द्वारा नष्ट कर दिए गए। तीसरा संगम आधुनिक मदुरै में आयोजित हुआ था।

तृतीय संगम की तिथि अन्य संगमों की तिथियों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक प्रतीत होती है। यह तिथि ईसा की प्रथम दो शताब्दी और संभवतः ईस्वी सन के प्रारंभ के तत्काल पूर्व की सदी मानी जाती है। तोल्काप्पियर का काल द्वितीय संगम युग में माना जाता है और तीसरा संगम युग भारत-रोम के तत्कालीन शाही रोम के साथ व्यापार के काल से मेल खाता है। यह काल-निर्धारण उस समय के ग्रीक लेखकों के विवरण में उपलब्ध साक्ष्यों पर आधारित है। भूमध्य सागरीय प्रदेशों और तमिल क्षेत्र के बीच समुद्रपारीय व्यापारिक गतिविधियों की अनेक चर्चाएँ मिलती हैं। यह संगम साहित्य से भी अभिप्रमाणित होता है। इस प्रकार तीसरे संगम में अनेक विद्यमान कृतियों के लेखन के प्रमाण मिलते हैं। संगमों की तुलना आधुनिक युग के यूरोप में फ्रेंच अकादमी से की जा सकती है जिसका लक्ष्य भाषा की शुद्धता और साहित्यिक स्तर को बनाए रखना था।

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. सही-गलत बताएँ:

- (i) संगम साहित्य संगम युग के अध्ययन का मुख्य स्रोत है।
- (ii) संगम शब्द का अर्थ है 'सम्मिलन' अर्थात् एक साथ मिलना।
- (iii) आरंभिक दक्षिण भारतीय इतिहास के संदर्भ में इस पद का तात्पर्य ऐसी विद्वत परिषद से है जो साहित्य और ललित कलाओं के बड़े शौकीन थे और जिन्हें पांड्य राजाओं का संरक्षण प्राप्त था।
- (iv) पुरातात्विक सामग्रियों द्वारा साहित्यिक स्रोतों के पुष्टीकरण से जाहिर होता है कि कालक्रम की दृष्टि से संगम युग ईस्वी सन 100-250 का काल है।
- (v) परंपरानुसार सभी तीन संगम पांड्यों की राजधानी में आयोजित किए गए।

14.5 संगम साहित्य-निकाय

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, संगम कृतियाँ तमिलकम के आरंभिक इतिहास के अध्ययन के लिए विपुल सामग्री प्रस्तुत करती हैं। इन सामग्रियों का भारी ऐतिहासिक महत्त्व है। 'तोलकाप्पियम', जो तमिल व्याकरण और काव्य शास्त्र पर शोध-प्रबंध है और जिसकी रचना संभवतः द्वितीय संगम के दौरान हुई, तमिल में प्राचीनतम विद्यमान कृति है। जहाँ तक अब उपलब्ध तमिल काव्य, जिसे आमतौर पर संगम काव्य कहा जाता है, का प्रश्न है, इस तृतीय संगम के दौरान रचित बताया जाता है।

आधुनिक विद्वान 'संगम साहित्य' पद का प्रयोग सिर्फ़ उन्हीं रचनाओं के लिए करते हैं जो छंद बद्ध हैं (गद्य का जन्म बहुत बाद में हुआ)। 'एत्तुतोगाई' (अष्टसंग्रह), 'पत्तुपात्तु' (दस गीत) और 'पतिनेकिल्कनक्कु' (अष्टादश लघु कृतियाँ), ये सारे काव्य इसी क्रम में 150 ई-250 ई. की अवधि में रचे गए हैं। तथाकथित 'पंचमहाकाव्य'-'जीवकचिंतामणि', 'सिलप्पादिकरम', 'मनिमे कलाई', 'वल्लयपाथी' और 'कुंडल केशी'- बहुत बाद के रचित बताए जाते हैं। इनमें अंतिम दो अब उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए शेष तीन 'महाकाव्यों' में 'सिलप्पादि करम' तथा 'मनिमे कलाई' 'जुड़वाँ महाकाव्य' कहे जाते हैं क्योंकि वे एकल परिवार-कोवलान (पुहार का धनी सौदागर), कन्नगी (कोवलान की साध्वी पत्नी), माधवी (नर्तकी) जिसके साथ कोवलान विवाहित बनकर रहता था और इस विवाह से उत्पन्न संतान मनिमेकलाई-की कहानी को ही आगे बढ़ाते हैं। 'सिलप्पादिकरम' का लेखक था ईलांगो आदिगल, जिसे महाकाव्य में सिंहासनारुढ़ चेर राजा 'सेंगुत्तुवन' का भाई कहा गया है। 'मनिमेकलाई' की रचना सथनार ने मुख्य रूप से तमिलों के बीच बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए की थी। इन सबके बावजूद ये काव्यात्मक कृतियाँ तामिलकनों के सामाजिक, आर्थिक और आर्थिक हालात के वर्णन करती हैं और इनके प्रतिपाद्य विषय के केंद्र मदुरै, पुहार (पुंपुहार/कावेरीपट्टीनम), वंजि (करुर) और कांची जैसे नगर हैं।

उपर्युक्त तीन समूहों के काव्य ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों के भीतर लिखे माने जा सकते हैं लेकिन वर्तमान में वे जिस क्रम में संग्रहीत और व्यवस्थित हैं वह बहुत बाद का प्रतीत होता है। काव्य की लंबाई उसे बड़े वर्गों में विभाजित करने का मुख्य आधार थी। 'अष्टसंग्रह' की कविताएँ तीन से तैंतीस पंक्तियों की हैं, जबकि 'दशगीत' की सबसे छोटी कविता 103 तथा सबसे लंबी 782 पंक्तियों की है। 'अष्टादश लघुकृतियों' में नैतिक और उपदेशात्मक साहित्य शामिल है। उपदेशात्मक साहित्य, जिसमें विश्व प्रसिद्ध 'तिरुक्कुरल' शामिल है। यह छंदों में है और प्रत्येक छंद में दो से पाँच पंक्तियाँ हैं। इसमें 133 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में 10 'जोड़ा' या 'कुरल' हैं। इसप्रकार कुल 1330 कुरल हैं। ये जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित हैं।

वर्तमान में संगम संग्रह में 3 पंक्तियों से लेकर 800 पंक्तियों तक की विभिन्न लंबाई वाले काव्य हैं। इनमें से कुछ रचनाएँ एक ही कवि की मानी गई हैं, जबकि नालादियार जैसी कुछ अन्य रचनाएँ अनेक कवियों द्वारा लिखित मानी जाती हैं। वर्तमान में उपलब्ध संगम काव्य 30,000 पंक्तियों से अधिक की है। ये कुल 473 कवियों द्वारा लिखी गई हैं जिनमें कुछ महिला कवि भी शामिल हैं। 102 कविताएँ अज्ञात कवियों की हैं। कवियों में 50 के करीब महिलाएँ थीं।

इन रचनाओं से ज़ाहिर होता है कि उस समय की भौतिक संस्कृति काफ़ी समुन्नत थी। इनसे यह भी ज़ाहिर होता है कि संगम युग आते-आते तमिल भाषा प्रौढ़ हो चुकी थी और साहित्यिक अभिव्यंजना की दृष्टि से सशक्त और सुरुचिपूर्ण माध्यम बन गई थी। भाषा अवश्य ही पुराकालीन है लेकिन आधुनिक तमिल भाषियों को समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती।

संगम काव्य दो प्रकार के हैं, हालांकि विद्वानों ने उनकी विषय-वस्तु के आधार पर उन्हें अनेक श्रेणियों में बांटा है। उनकी दो प्रधान किस्में हैं-लघु संबोध-गीति (ओड) और लंबी कविताएँ। इतिहासकारों के लिए छोटी कविताएँ लंबे गीतिकाव्य (लिरिक्स) से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी आमतौर पर इन स्रोतों का ऐतिहासिक मूल्य उनकी लंबाई पर निर्भर नहीं है।

सम्बोध-गीति (odes) वचयनिकाओं (पदावली) में संग्रहित हैं। ये वाचिकाएँ हैं- अहनानुरु, पुरानानुरु, कुरुंतोगाई, नार्रिनाई, कालितोगाई, परिपादाल, ऐंगुरुनुरु और पतिरुपत्तु। इनका समुच्चय 'एत्तुतोगाई' कहलाता है। दस लंबे गीति-काव्य अथवा विवरणात्मक काव्य, जिसे 'पत्तु-पत्तु' कहते हैं, नौवाँ समूह माना जाता है। इस समुच्चय में निम्नलिखित

काव्य शामिल हैं: तिरुमुरुगारुप्पादाई, सिरुपानारुप्पादाई, पोरुनारुप्पादाई, पेरुंबनारुप्पादाई, नेदुनालवादाई, कुरिजिप्पात्रु, मदुराईक्कांजी, पत्तिनाप्पालाई, मुमुल्लाइप्पत्तु और मलाईपादुकादमा। इनमें तिरुमुरुगारुप्पादाई भगवानमुरुग पर भक्तिमय काव्य है; सिरु पनारुप्पादाई नल्लियाक्कोडन की उदार प्रकृति का वर्णन करता है जिसने चोल राज्य के एक हिस्से पर शासन किया; पेरुं बाना रुज्पदाई तोंदा ईमान इलांतैरैयान और उसकी राजधानी कांचीपुरम का वर्णन करता है; पोरुनारुप्पादाई और पत्तिनाप्पालाई महान चोल राजा कारिकाल का स्तुतिगान करता है; नेदुनालवादाई और मदुराई कांजी महान पांड्य राजा लालैया लांग नत्रु नेडुन जेलियान का वर्णन करता है; कुरिजिप्पात्रु पहाड़ी और पर्वतीय जीवन का चित्रण करता है, और मलाई पादुकादम नायक नान्ना के साथ-साथ युद्ध में राजा की विजय की उत्सव मनाने और सेना का मनोबल बढ़ाने के लिए गीत-संगीत की रचना करता है। ये सारी कृतियाँ संगम युग में कवियों की महत्ता दर्शाती हैं।

14.6 राजव्यवस्था

संगम काव्य दक्षिण भारत में पहली बार राज्य प्रणाली के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। ये रचनाएँ ऐतिहासिक विकास की ऐसी प्रक्रिया के संकेत देती हैं जिसमें हम कबीलों की संख्या में ह्रास तो पाते हैं, लेकिन राजा के साथ सुगठित इकाइयों के रूप में उनका अस्तित्व भी कायम रहता है। इस तरह, साक्ष्यों से पता चलता है कि राज्य एक संगठित राजनीतिक संरचना के रूप में वजूद में आ तो गया था, लेकिन यह अभी भी स्थिर नहीं था। यद्यपि राज्य सरकार की प्रजातांत्रिक अवधारणा अभी सुदृढ़ नहीं हो पायी थी परंतु प्रशासन राजतंत्रीय होते हुए भी प्रजातंत्र के अनुरूप आचरण करता था।

14.6.1 राजत्व

तीन मूर्वेतरो (अभिषिक्त नरपतियों) में चोल पूर्णतः सिंचित और उर्वर कावेरी घाटी को नियंत्रित करते थे और उनकी राजधानी युरैयुर में थी। पांड्य पशुचारी और तटवर्ती भागों पर शासन करते थे और उनकी राजधानी मदुरै में थी। और चेर का आधिपत्य पश्चिम में पहाड़ी क्षेत्र में था उनकी राजधानी वंजि (कुरुर) में थी। संगम कृतियाँ इतने राजाओं के नाम की चर्चा करता है कि उनका वंशक्रम और कालक्रम निर्धारित करना कठिन प्रतीत होता है। फिर भी, चोलनृप उरुवाफेर इलांजेत्वेन्नी, उसके पुत्र कारिकल और कारिकल के दो पुत्रों, नालन-किल्ली और नेदुं-किल्ली, की वंशावली को विद्वानों ने संपुष्ट करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। दो अन्य राजवंशों के नृपों में पांड्यों में मुथुकुदुमी पेरुवालुदी, अरयिपादाई कादंथ नेडुनजेलियन, वेरीवेर्चेलियन और तलयालंकानाथु चेरुवेनरा नेडुल जेलियन तथा चेरों में ईमायारांराने नेडुमकेरालतन, चेरन सेंगुत्तुवन और मांतारम चेरल ईरुंपोराई शामिल हैं।

शासन का प्रचलित रूप राजतंत्र था। राजा वेंतन कहा जाता था। वह समाज और सरकार का प्रधान होता था। समाज के प्रधान के रूप में वह इन्द्रोत्सव, नृत्यप्रदर्शन के उदघाटन इत्यादि सामाजिक महत्त्व के विषयों में अगुआई करता था। राज्याभिषेक के समय राजा महत्त्वपूर्ण उपाधियाँ ग्रहण करता था। दैवी पवित्रता प्रदान करने के लिए वह देवताओं के समकक्ष माना जाता था। प्राचीन तमिलवासी तीन वस्तुओं- मृदंग, राजदण्ड, और श्वेत छत्र- को राजा के पद के प्रधान चिह्न मानते थे।

संगम श्रेण्य साहित्य के अनुसार राज पद वंशानुगत रूप में पिता से पुत्र को प्राप्त हो जाता था। राज्य में शांति और व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व राजा पर था। वह अपने प्रजा के कल्याण की देख-रेख करता था, उनकी भलाई के लिए कठोर परिश्रम करता था और सब कुछ व्यवस्थित रखने के लिए पूरे राज्य का दौरा करता था। वह प्रशासन के मामले में सलाहकारों से परामर्श भी लेता था। संगम साहित्य उनके लिए प्रायः 'सुरम' पद का प्रयोग करता है जिसका

तात्पर्य वैसे लोगों से है जो राजा को आवश्यकता पड़ने पर सलाह देने के लिए उसके इर्द-गिर्द रहते थे।

14.6.2 सरदारगण

संगम युग सिर्फ बड़े राजाओं का ही नहीं, बड़े सरदारों का भी युग था। ये सरदार राजा के अधीन होते थे। उन्हें दो वर्गों में बांटा गया है- वेलिर और अ-वेलिर। उनमें से कुछ साहित्य के महान संरक्षक थे। इन सरदारों में कुछ प्रमुख थे- मोहुर का पालयन मारन (आधुनिक मद्रै के निकट), नन्नान वेनमान और विल्लवान कोथाई (दोनों प्रायद्वीप के पश्चिमी तट के), ओइमानाडु (आधुनिक दक्षिणी आकेटि) के नल्लिया कोडन, टिथियन (तिन्ने वैल्ली क्षेत्र) तथा वेलिर सरदारों का पूरा समूह, जैसे- पारमबुनाद कापारी, पाल्नी क्षेत्र का वेलपेगन, पुडूकोट्टाई क्षेत्र का वेलइव्वी, कोदुंबालुर के वेल आवी और ईरुक्कुवेल, तथा अन्या संगम के उत्तर काल में राजतंत्रीय सत्ता अधिक सुदृढ़ हो गई और परंपरागत सरदारों की स्थिति घटकर राजकीय पदाधिकारियों की हो गई। लेकिन, संगमोत्तर काल में राजकीय पदाधिकारियों ने अपनी स्थिति मजबूत कर ली और केंद्र क्रमशः कमजोर हो गया।

14.6.3 प्रशासन

अब हम संगम ग्रंथों में वर्णित प्रशासकीय तंत्र की चर्चा करेंगे राजा की नीतियाँ परिषदों में शक्ति-संतुलन की प्रणाली के तहत नियंत्रित की जाती थीं। 'सिलप्पादिकरम' दो प्रकार की परिषदों की चर्चा करता है- ऐंपेरुकुलु और ऐंपेरायम। ऐंपेरुकुलुम अथवा पांच सदस्यों की परिषद मंत्रियों की परिषद थी, जबकि ऐंपेरायम अथवा महासभा में 8 सदस्य (सरकारी पदाधिकारी) होते थे। यह राज्य के प्रशासकीय तंत्र के रूप में कार्य करता था। दोनों परिषदें प्रशासकीय निकाय थीं किन्तु उनका कार्य सामान्य तौर पर परामर्श का था। फिर भी, उनके परामर्श राजा द्वारा शायद ही कभी ठुकराए जाते थे। उनका मुख्य कार्य न्यायिक था यद्यपि ऐंपेकुल, जैसा कि 'मदुरैक्कांजी' कहता है, ही मुख्य रूप से इसका प्रभारी था।

यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन राजा चाहे जितना प्रतापी रहे हों लेकिन भारतीय प्रशासन स्वभावतः सीमित अथवा लोकप्रिय राजतंत्र के स्वरूप का रहा है। दक्षिण भारत के मामले में उत्तर भारत की तुलना में यह आरंभ से ही देखा जा सकता है और दक्षिण तथा उत्तर दोनों अपने-अपने प्रशासनिक नमूने का अनुसरण करते रहे हैं। प्रत्येक स्थानीय इकाई, चाहे वह कितनी भी छोटी और किसी भी कोने में स्थित हो, स्थानीय सभा द्वारा शासित होती थी। संगत कृतियों में 'अवाई' और 'मरनाम' जैसे पद इसी इकाई के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ऐसी सभाओं को आमतौर पर 'आरांकुरावैयम' कहा जाता है जो अपने सही निर्णाय के लिए मशहूर रहे हैं। इन्हें हमारी आधुनिक पंचायत प्रणाली का अग्रदूत माना जा सकता है।

14.6.4 प्रतिरक्षा

बड़े शासक राजवंश और सरदार विशाल स्थायी सेना रखते थे। युद्ध प्रायः होते रहते थे और वे न सिर्फ प्रतिरक्षा के लिए बल्कि राज्यक्षेत्र बढ़ाने अथवा पड़ोसी राज्यों की अत्याचार या कुशासन झेलती जनता को मुक्ति दिलाने के लिए भी लड़े जाते थे। कभी-कभार वैवाहिक संबंध स्थापित करने हेतु युद्ध होते थे। आम लोगों की मानसिक स्थिति ही ऐसी थी कि प्रायः हर व्यक्ति अपने को युद्ध के लिए प्रशिक्षित करता था और राजाओं के द्वारा संपोषित सेना के अतिरिक्त पूरे देश में ऐसे प्रशिक्षित सैनिक मौजूद थे जो जरूरत पड़ने पर शाही सेना में शामिल हो सकते थे।

जैसा कि संगम साहित्य कहता है, राजा के पास सभी चार प्रकारों की सेना- रथ, गज, अश्व और पैदल थी। चेरानृपों के संबंध में नौसेना का भी जिक्र मिलता है जो सामुद्रिक पत्तन की रखवाली इतने अच्छे ढंग से करती थी कि दूसरे जहाज क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते थे। संगम ग्रंथों में युद्ध क्षेत्रों में सैनिक छावनी का भी उल्लेख मिलता है। राजा की छावनी

शानदार ढंग की बनी होती थी और छावनी में भी वह अपने श्वेत छत्र के नीचे सोता था और अनेक सैनिक उसके चारों ओर सोते थे जिनमें अधिकांश बिना तलवार के होते थे। सामान्य सैनिकों की छावनियाँ अगल-बगल प्रायः ईख की पत्तियों से बनी होती थीं और उनके शिखर पर धान की पत्तियाँ लगाई जाती थीं जिससे धान लटकता रहता था। सेनापतियों और ऊंची श्रेणी के पदाधिकारियों के साथ उनकी पत्नियाँ अभियान पर जाती थी और वे सभी पदाधिकारियों के लिए विशेष रूप से बनी छावनियों में ठहरती थीं। राजा प्रायः सैनिकों और पदाधिकारियों की छावनियों में जाता था और उनके कुशल-क्षेम पूछता था। वह रात्रि के समय और यहाँ तक कि बारिश में भी ऐसा करता था।

तमिल जनता में योद्धा विशेषकर युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले व्यक्ति के प्रति मन में भारी सम्मान का भाव था लेकिन पीठ पर लगे घाव के प्रति गहरे तिरस्कार का भाव भी था उनमें। ऐसे राजाओं के उदाहरण मिलते हैं जो उपवास कर अपनी जान गंवा देते थे क्योंकि उनकी पीठ पर घाव लगे थे। जो युद्ध में शहीद हो जाते थे उनकी याद में स्मारक खड़े किए जाते थे। कारावासों में प्रावधान से राज्य के प्रतिरोधी तंत्र का भी बोध होता है।

संगम राज्यव्यवस्था अनेक मामलों में उत्तरी भारतीय राजनीतिक विचारों और संस्थाओं से प्रभावित थी। अनेक शासकों ने अपने मूल उद्भव और संबंधों को शिव, विष्णु जैसे देवताओं और प्राचीन मनीषियों से जोड़ने का प्रयास किया। अनेक राजाओं के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपने उत्तर भारतीय प्रतिरूपों की भांति महाभारत के युद्ध में भाग लिया। संगम युग के शासक कला, साहित्य के संरक्षक थे और यज्ञ भी किया करते थे।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. संगम साहित्य से जुड़े जुड़वा महाकाव्य का नाम बताएँ।

ख. संगम साहित्य के तीन पदावलियों के नाम बताएँ।

ग. रिक्त स्थान भरें:

- (i) संगम काल में राजा को कहा जाता था।
- (ii) वह प्रशासन के मामले में सलाहकारों से परामर्श भी लेता था। संगम साहित्य उनके लिए प्रायः पद का प्रयोग करता है।
- (iii) सिलप्पादिकरम दो प्रकार की परिषदों की चर्चा करता है- और।
- (iv) सरदार जो राजा के अधीन होते थे उन्हें दो वर्गों में बांटा गया है- और।

14.7 अर्थव्यवस्था

14.7.1 कृषि

संगम युग की जनता की समृद्धि भूमि की उर्वरता और व्यापार के विस्तार में निहित थी। 'मदुरैक्कांजी' कृषि और व्यापार को आर्थिक विकास की मुख्य शक्ति मानता है।

कृषि राज्य के राजस्व का मुख्य स्रोत थी। कृषि को दिए गए महत्त्व का पता इससे भी चलता है कि जनता पशुपालन में विशेष अभिरुचि लेती थी। संगम काव्यों में प्रायः दूध और दूध के उत्पादों- दही, मक्खन, घी, छाँछ- का जिक्र मिलता है। पशुधन के महत्त्व का पता साहित्यिक रचनाओं में वर्णित पशुओं के लिए शत्रु-देश पर आक्रमण से भी चलता है।

राजा के प्रधान कर्तव्यों में अपने राज्य के पशुधन की रक्षा करना भी शामिल था। पशुधन बदले में कृषक के धन में अभिवृद्धि लाता था। 'सिलप्पादिकरम' भी जनता की सुख-समृद्धि को कृषि से जोड़ता है।

बड़े पैमाने पर उपजाई जाने वाली फसलों में धान और ईख का प्रमुख स्थान था। इसके अतिरिक्त अन्य फसलों और फलों में शामिल थे- चना, सेम, वल्लि (मीठे आलू जैसा) कंद, कटहल, आम, केला, नारियल, सुपारी, केसर, गोलमिर्च, हल्दी, इत्यादि।

संगम युग के राजाओं ने कृषि के विकास के लिए अनेक उपाय किए। यह सर्वविदित है कि कारिकल चोल ने सिंचाई के लिए एक तालाब खुदवाया था और उसका कावेरी तटबंध कृषि के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। तालाब से सिंचाई के कारण कृषि में लाभ की चर्चा अनेक कविताओं में मिलती है; उदाहरणार्थ- 'मदुरैक्कांजी' "उन नदियों की चर्चा करता है जो पूर्वी सागर की ओर जाने में तालाबों को भर देती है"। स्रोतों से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि राजा की समृद्धि बहुत हद तक भूमि की समृद्धि पर निर्भर करती थी।

14.7.2 उद्योग

संगम युग में उद्योग संबंधी गतिविधियाँ भी बड़े पैमाने पर जारी थीं। काव्यों में अनेक प्रकार के कारीगरों-लौहकार, ताम्रकार, स्वर्णकार, कुंभकार, मूर्तिकार, चित्राकार और बुनकर-का उल्लेख मिलता है। 'मनिमेकलाई' महाराष्ट्र से वास्तुकारों, मालवा से लौहकारों, ग्रीस और रोम से काष्ठकारों तथा मगध से जौहरियों के अपने तमिल प्रतिरूपों के साथ सहयोग की चर्चा करता है। पेशा अथवा व्यवसाय आमतौर पर आनुवंशिक था अर्थात् पिता का पेशा पुत्र अपना लेता था। 'सिलप्पादिकरम' के अनुसार अलग-अलग पेशे के लोग अलग-अलग गलियों में रहते थे। इससे विभिन्न व्यापारों और उद्योगों में तो तरक्की हुई ही, पेशे से जुड़े लोगों ने भी अपने-अपने क्षेत्र में महारत हासिल की।

इस युग में निर्माण-कला ने भी नया उत्कर्ष प्राप्त किया। इस संबंध में काष्ठकारों के कार्य उल्लेखनीय हैं। 'सिलप्पादिकरम' में ऐसी नौकाओं का उल्लेख हुआ है जिनके आग्रभाग अश्व, गज और सिंह की आकृति वाले थे। इसके अतिरिक्त, भूमध्यसागरीय जगत और अन्य दूर देशों के साथ बढ़ते व्यापारिक संबंध तभी संभव हो सकते थे जब मजबूत और यात्रा योग्य पोत बनाए गए हों। अन्य निर्माण कार्यों में शामिल थे- खन्दकें, पुलें, नालियाँ, प्रकाशगृह, इत्यादि।

चित्रकला भी संगम युग में काफी लोकप्रिय थी। 'पारिपादाल' मदुरा (मदुरै) में चित्रांकनों के एक संग्रहालय की चर्चा करता है और 'सिलप्पादिकरम' में चित्रों की बिक्री का उल्लेख हुआ है। घरों की दीवारें, छतें, वस्त्र, पलंगपोश, पर्दे और नितप्रति के उपयोग की अन्य चीजें भी चित्रांकित की जाती थीं और उनकी भारी मांग थी।

बुनाई कला तो सिर्फ तमिलों में ही नहीं, विदेशियों में भी काफी लोकप्रिय थी। संगम साहित्य में बुने हुए पुष्प के अभिकल्प की बार-बार चर्चा हुई है। कपड़े सिर्फ कपास, रेशम और ऊन से ही नहीं, चूहों के बाल से भी बुने जाते थे और सूत को रंगने का भी रिवाज था। भारतीय रेशम अपनी बारीकी के कारण रोमन सौदागरों द्वारा भारी मांग में था। फिर भी, बुनाई उद्योग एक घरेलू उद्योग था जिसमें परिवार के सारे सदस्य, विशेषकर महिलाएँ भाग लेती थीं।

चर्मकारों, कुंभकारों और अन्य कारीगरों ने भी औद्योगिक विकास में योगदान किया। लेकिन इस संबंध में अत्यंत उल्लेखनीय यह है कि इस युग में ग्रीक मूर्तिकला और अन्य विदेशी शिल्पों का दक्षिण भारत में प्रवेश हुआ। 'नेदुनालवादाई' और 'पादिरुप्पत्तु' जैसी साहित्यिक कृतियाँ विदेशियों द्वारा बनाए गए सुंदर चिरागों, रोमन पात्रों और मद्यचषकों का उल्लेख करती हैं। उस अवधि में अमरावती (आन्ध्रप्रदेश) और श्रीलंका की मूर्तिकलाओं में ग्रीक-रोमन प्रभाव देखे जा सकते हैं।

14.7.3 व्यापार

संगम युग के तमिलों का भूमध्यसागरीय जगत (ग्रीस और रोम), मिस्र, चीन, दक्षिण पूरबी एशिया और श्रीलंका के साथ व्यापारिक संबंध थे। 'सिलप्पादिकरम', 'मनिमेकलाई' और 'पट्टीनप्पालाई' जैसी साहित्यिक कृतियाँ ग्रीक और रोमन व्यापारियों के साथ संबंध की चर्चा बार-बार करती हैं। इस अवधि में भारत-रोम व्यापार अपने उत्कर्ष पर था। प्लिनी, टोलेमी, स्ट्राबो और पेट्रोनियस जैसे विदेशियों के 'पेरिप्लस ऑफ ऐरिथ्रियन' और अन्य वृत्तांत उस अवधि के अनेक पत्तनों और व्यापार की सामग्रियों का जिक्र करते हैं। अनेक स्थलों पर पुरातात्विक खुदाइयों और खोजों ने भी ऐसे शिल्प-तथ्य प्रदान किए हैं जिनसे तमिल क्षेत्रों और अन्य देशों के बीच व्यापारिक संबंधों की पुष्टि होती है। अनेक स्थानों पर सिक्कों के ज़खीरे की खोज से भी यह अभिप्रमाणित होता है।

संगम ग्रंथ मुख्य रूप से सिर्फ़ मुसिरी, पुहार (कावेरी पट्टीनम) और कोडकाई के पत्तनों की चर्चा करते हैं। ये तीन पत्तन उस काल के तीन महान शासकों के हैं। इनके अतिरिक्त पेरिप्लस तोंडी, मुसिरी और कोमारी (कन्याकुमारी), कोल्ची (कोडकी), पोडुके (अरिकामेडु) और सोपात्मा के पत्तनों का उल्लेख करता है। पेरिप्लस के अनुसार दक्षिण भारत में तीन प्रकार के जलयानों का उपयोग होता था- लघु तटीय जलयान, वृहद तटीय जलयान और समुद्रयात्रीय जलयान। 'कोलांडिया' नामक वृहद जलयानों की चर्चा मिलती है जो तमिल समुद्रतट से गंगा नदी तक जाते थे।

रोम को निर्यात किए गए पण्यों से खासा मुनाफा होता था। बाघ, तेंदुआ, बंदर और मोर जैसे ज़िंदा जानवर रोम भेजे जाते थे। निर्यात के मुख्य पशु-उत्पादों में हाथीदाँत और मोती शामिल थे। वानस्पतिक उत्पादों में सुगन्धित पदार्थ और मसाले (गोलकी, अदरक, इलायची, लौंग, काष्ठफल इत्यादि) नारियल, केला, गुड़, सागौन, चंदन, आर्गुरु (उरैयार से) के नाम से ज्ञात विशेष प्रकार के सूती वस्त्र, इत्यादि मुख्य निर्यात-सामग्रियाँ थीं। हीरा, वैदूर्य, इस्पात, अल्पमूल्य रत्न, इत्यादि खनिज द्रव्य भी दक्षिण भारत से निर्यात किए जाते थे।

रोम से आयात की जाने वाली मुख्य वस्तुएँ थीं- सिक्के, मूंगा, मद्य, शीशा, टिन और जेवरे। उस अवधि में दक्षिण भारत के अनेक स्थलों पर बनी मालाएँ दक्षिण पूरबी एशिया के अनेक स्थलों पर पाई गई हैं। इससे दोनों प्रदेशों के बीच समुद्रवर्ती संबंधों का संकेत मिलता है। अनेक शहरों में विदेशी व्यापारियों की बस्तियाँ थीं।

इन सबके बावजूद, तमिलों की समृद्धि में सिर्फ़ विदेशी व्यापार का ही सहयोग नहीं था। इस क्षेत्र में विभिन्न नगरीय केंद्रों को जोड़ने वाले व्यापार के स्थानीय नेटवर्क ने आंतरिक व्यापार को फूलने-फलने के पर्याप्त अवसर प्रदान किए। 'सिलप्पादिकरम' पुहार के बाजार की गालियों का जिक्र करता है जबकि 'मदुराइकांजी' पांड्यों की राजधानी मदुराई के बाजार का।

तटीय पत्तनों और शहरों के अतिरिक्त तमिल प्रदेश के भीतरी इलाकों में भी नगर-केंद्रों का विकास हुआ। इनमें मदुरै, करूर, पेरूर, कोडुमानाल, उरैयुर, कांचीपुरम इत्यादि प्रसिद्ध हैं। एक और पूर्वीतट पर कोरकोई मोती निकाले जाने के लिए प्रसिद्ध था तो दूसरी ओर भीतरी इलाके में कोडुमानाल वैदूर्य के लिए। लेकिन, व्यापार सिर्फ़ नगरों तक ही केंद्रित नहीं था। दूर-दराज के गाँव भी व्यापार के नेटवर्क से जुड़े थे। भीतरी प्रदेश के व्यापार के लिए छकड़े परिवहन के प्रमुख साधन थे। वे या तो माल ढोने अथवा व्यापारियों के साथ-साथ आम लोगों को लाने-ले जाने के काम में आते थे।

व्यापार अधिकांशतः अदला-बदली के आधार पर चलता था। तमिल प्रदेश की भौगोलिक विविधता के कारण विभिन्न क्षेत्रों के बीच मालों/उत्पादों का विनिमय आवश्यक था। फिर भी व्यापारिक उद्येश्यों के लिए सिक्कों के उपयोग को आंतरिक व्यापार के संदर्भ में भी इनकार नहीं किया जा सकता।

व्यापार राजकीय राजस्व का महत्त्वपूर्ण स्रोत था। पारगमन कर उन व्यापारियों से वसूल किए जाते थे जो एक स्थान से

दूसरे स्थान में जाते थे। युद्ध में लूटा गया माल भी राजकीय कोष में वृद्धि लाता था। लेकिन, कृषि से होने वाली आय ही युद्ध और राजनीतिक संगठन का ठोस आधार भी। फिर भी, इसका कहीं स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है कि राजा कृषि-उत्पाद का क्या अंश पाता था।

14.8 समाज

जैसा कि 'तोल्ल्काप्पियम' के वर्णन से पता चलता है, संगम समाज का आरंभिक दौर भूमि के पंचविध वर्गीकरण-पहाड़ी, पशुचारी, कृषीय, मरुस्थलीय और तटीय-पर आधारित था। इन वर्गीकृत भूमियों पर विभिन्न किस्म के लोग रहते थे और सबने अपने अलग-अलग परिवेश में आदान-प्रदान के फलस्वरूप विशेष प्रकार के तौर-तरीके और जीवन-शैलियाँ विकसित कीं। पारिस्थितिकीय विविधताओं ने ही उनके विभिन्न व्यवसायों- आखेट, कृषि, पशुचारिता, लूट-पाट, माहीगिरी, गोताखोरी, नौचालन, इत्यादि-का स्वरूप निर्धारित किया।

14.8.1 सामाजिक संरचना

मानवशास्त्रीय अध्ययनों से पता चलता है कि आद्य सामाजिक घटक जैसे नेग्रोआयड और आस्ट्रेलायड समूहों का था जिनका मिश्रण आद्य भूमध्यसागरीय क्षेत्रों से आए एक अन्य प्रजातीय कुल से हुआ। आरंभिक दौर में इन समाजों की आबादी कम थी और सामाजिक वर्गों का निर्माण नहीं हुआ था। परिणामस्वरूप, प्रत्येक क्षेत्र के लोगों में अद्भुत पारस्परिक एकता थी। वे अपने शासकों के पास स्वतंत्रतापूर्वक आ-जा सकते थे। उस समय का तमिल समाज जिस एकल वर्गीकरण को जानता था वह था सैनिकों, आखेटकों, गड़ेरियों, हलवाहों, मछुआरों, इत्यादि के पेशे पर आधारित 'अखिर', 'उलवार', इत्यादि का वर्गीकरण।

अनेक कबीलों और सरदारों का अस्तित्व संगम युग के उत्तरार्द्ध में मिलता है। चार वैदिक वर्ण स्पष्टतः बाद की अवधि के थे। लेकिन यह एक रोचक तथ्य है कि वर्ण-व्यवस्था अप्रवासी ब्राह्मणों द्वारा लाई गई (लगभग ईसा की पहली सदी), लेकिन इसमें उत्तर भारत की तरह क्षत्रिय शामिल नहीं थे। सिर्फ ब्राह्मण ही द्विज थे जो यज्ञोपवीत धारण कर सकते थे। दासों का जिक्र मिलता है और उन्हें 'आदिमाई' (वह जो दूसरों के चरण पर आश्रित होता है) कहा जाता था।

14.8.2 महिलाएं

उस काल में नारियों को भी पुरुषों की भांति स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे स्वतंत्र रूप से शहरों में जाती थीं, समुद्रतट और नदी के किनारे खेल-कूद सकती थीं और मंदिरों के उत्सव में शामिल हो सकती थीं, जैसाकि 'कालित्तोगाई' जैसे संगमकाव्यों से ज़ाहिर होता है। फिर भी नारियों की हैसियत पुरुषों की अधीनता में ही थी और यह उस अवधि के सामान्य दर्शन का ही एक पक्ष था। 'कुरुंतोगाई' के अध्ययन से पता चलता है कि पत्नी को पति के गुणों के मूल्यांकन के आधार पर नहीं अपितु इसलिए उसे प्यार करना चाहिए क्योंकि वह उसका पति है। दूसरे शब्दों में, पत्नी के लिए पति का आकलन करना संभव नहीं था। यद्यपि ऐसे भी प्रसंग मिलते हैं जहाँ नारियाँ शिक्षित थीं और कुछ तो काव्य-रचना भी करती थीं लेकिन आम नारियों की स्थिति ऐसी नहीं थी। उन्हें संपत्ति का अधिकार नहीं था, लेकिन उनके साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार किया जाता था। वे विधवा का जीवन बिताती थीं अथवा सती हो जाती थीं और इसे दैवी विधान माना जाता था। विवाह एक संस्कार था, संविदा नहीं। 'तोल्ल्काप्पियम' में आठ प्रकार के विवाहों की चर्चा की गई है जिनमें ब्रह्म विवाह का आम प्रचलन था। फिर भी, प्रणय-निवेदन और यहाँ तक कि पलायन, जो बाद में पारंपरिक विवाह के रूप ले लेता था, की भी चर्चा मिलती है।

वेश्यावृत्ति एक स्वीकृत संस्था थी। लेकिन गणिकाएँ शांत पारिवारिक जीवन में बाधक मानी जाती थीं। इसके बावजूद, काव्यों में जिस रूप में इनका चित्रण हुआ है और वे जैसी सामाजिक हैसियत रखती थीं उससे इस बात में संदेह नहीं रह

जाता कि संगम युग की गणिकाएँ आधुनिक युग की अवमानित वेश्याएँ नहीं थीं। यद्यपि 'कुरुतोगाई' जैसे ग्रंथ ऐसी गणिकाओं की चर्चा करते हैं जो पत्नियों और उनके रिश्तेदारों को चुनौती देती हैं, पुरुषों को लुभाती हैं, लेकिन गणिकाएँ अपने साथियों को मुख्य रूप से सांस्कृतिक आनंद ही प्रदान करती थीं।

वस्त्र, आभूषण और फैशन

समाज के उच्च वर्ग के लोग बारीक मलमल और रेशम से बने वस्त्र पहनते थे। कुलीनों और राजाओं को छोड़कर शेष लोग कपड़ों के दो टुकड़ों-एक कमर के नीचे और दूसरा पगड़ी के रूप में शिरोवस्त्र- से ही संतुष्ट रहते थे। स्त्रियाँ कपड़ों का उपयोग कमर से नीचे के भाग को ढंकने के लिए ही करती थीं। कबीले तो उतना भी नहीं कर सकते थे। कबीलाई स्त्रियाँ अपने को ढंकने के लिए पत्तों और छालों का उपयोग करती थीं।

संगम युग के स्त्री-पुरुष तेल, सुगंधित द्रव्य, रंगीन पाउडर और प्रलेप के शौकीन थे और चंदन का गहरा लेप अपनी छातियों पर लगाते थे। 'सिलप्पादिकरम' के अनुसार स्त्रियाँ अपने शरीर पर तस्वीरें बनवाती थीं और पलकों पर श्याम-रंजक लगाती थीं। स्त्री और पुरुष दोनों गर्दन के घेरे में, बाहों और पैरों में आभूषण धारण करते थे। नायक और कुलीन भारी बाजूबंद और पाजेब पहनते थे, जबकि सामान्य स्त्रियाँ अनेक प्रकार के अन्य जेवर धारण करती थीं। ऊँचे तबके के स्त्री-पुरुष स्वर्ण और कीमती रत्नों से अपना श्रृंगार करते थे, जबकि गरीब लोगों में शंख-निर्मित कंगनों और रंगीन मनकों से बने कंठों का चलन था। 'शिलप्पादिकरम' एक ऐसे आनुष्ठानिक गर्मस्नान का जिक्र करता है जिसका जल पाँच प्रकार के बीजों, दस प्रकार के स्तंभक या कसैला और बत्तीस प्रकार के सुगंधित पौधों से गरम किया जाता था। बालों को 'अखिल' के धुएँ से सुखाया जाता था और श्रृंगार के लिए उन्हें पाँच हिस्सों में बांटा जाता था। पुरुष भी लंबे बाल रखते थे और उनके गुच्छे को गांठ बनाकर बांधते थे। इन गांठों को कभी-कभार मनकों की माला से घेरा जाता था। तमिल फूलों के बेहद शौकीन थे और स्त्रियाँ जूड़े में फूल, खासकर कुमुदिनी लगाती थीं जैसा कि 'कुरुंतोगाई' में कहा गया है।

14.8.4 आवास

लोग दो प्रकार के घरों-गीली मिट्टी और ईंटों से बने घर में रहते थे। संगम ग्रंथों के अनुसार दूसरी कोटि के घर 'सुडुमान' से बने होते थे जिसका अर्थ है पकाई गई मिट्टी। गरीब लोग ऐसी छाजन वाले घरों में रहते थे जो घास अथवा नारियल या पंखिया खजूर अथवा ताड़ से छाई जाती थी। साहित्यिक रचनाएँ धनी लोगों के मंजिलदार घरों का जिक्र करती हैं जिनके प्रवेश-द्वार पर लोहे के फाटक होते थे और उन फाटकों को जंग से बचाने के लिए रंग दिया जाता था। 'सिलप्पादिकरम' के अनुसार ये घर सुंदर कलात्मक चिरागों से प्रकाशित किए जाते थे और ऐसे चिराग प्रायः ग्रीस और रोम से आते थे। ये चिराग मछली से निकाले गए तेल से जलाए जाते थे।

14.8.5 भोजन और पेय

सामिष (Non-vegetarian) भोजन मुख्य भोजन था हालांकि ब्राह्मण एवं संन्यासी निरामिष (vegetarian) आहार ही पसंद करते थे। भोजन बहुत सादा होता था। उसमें चावल, दूध, मक्खन, घी और शहद प्रधान थे। मांस और मद्य का खुलकर उपयोग होता था। दही लोकप्रिय भोज्य था। 'कुरुंतोगाई' दही, गुड़, मुरमुरा, दूध और घी से बने अनेक प्रकार के मिष्ठानों की चर्चा करता है। संगम ग्रंथों में कढ़ी और चावल का भी जिक्र आया है। कुल मिलाकर उच्चवर्ग के लोग उत्तम कोटि के चावल, मनपसंद मांस, आयातित मद्य इत्यादि ग्रहण करते थे। ब्राह्मण लोग निरामिष भोजन पसंद करते थे और मद्यपान से परहेज करते थे। शहरी क्षेत्रों में भोजन का सार्वजनिक वितरण दातव्य संस्थाओं द्वारा किया जाता था।

दावतों का आयोजन सामूहिक मनोरंजन के लिए किया जाता था। अतिथियों को खिलाने की प्रथा सामान्य प्रथा थी और बिना अतिथि को खिलाए भोजन को अधूरा माना जाता था। कवि और विद्वान सम्मानित अतिथि माने जाते थे और घी में पकाया चावल उन्हें प्रेम और आदरस्वरूप खिलाया जाता था।

14.8.6 मनोरंजन

मन-बहलाव के लिए लोग अनेक प्रकार के खेलों और उत्सवों में भाग लेते थे। इनमें नृत्य, संगीत-कार्यक्रम, धार्मिक उत्सव, वृषभ-युद्ध, मुर्गबाजी, आखेट, पासा, कुश्ती, मुक्केबाजी, कलाबाजी इत्यादि शामिल थे। औरतें धार्मिक उत्सवों, पासे और 'वारिप्पांथु' या कपड़े के गेंद से अपना मन बहलाती थीं। लड़कियां प्रायः ताड़ या खजूर की पंखियों के रेशे से बने हिंडोले में झुलती थीं। 'नरिन्नाई' अलंकृत गुड़ियों से खेले जाने वाले खेल की चर्चा करता है। 'कुरुंतोगाई' के अनुसार बच्चे खिलौनागाड़ी से खेलकर और समुद्र-तट पर बालू के घर बनाकर अपना मनोरंजन करते थे।

नृत्य और संगीत मनोविनोद के दूसरे लोकप्रिय साधन थे। संगम काव्य अनेक प्रकार के नृत्यों की चर्चा करता है। 'सिलप्पादिकरम' सात समूहों में बंटे ग्यारह प्रकार के नृत्यों का जिक्र करता है। यह संगीत की बारीकियों का भी ब्योरा प्रस्तुत करता है। मृदंग, बांसुरी और याल जैसे अनेक प्रकार के वाद्ययंत्र पुहार और मदुराई की दुकानों में बेचे जाने की भी चर्चा मिलती है। प्रदर्शन की कलाओं में नाटक भी शामिल था। नाटकों का स्वरूप अधिकांशतः धार्मिक होता था लेकिन यदा-कदा वे महान व्यक्तियों अथवा महत्त्वपूर्ण घटनाओं के स्मरणोत्सव के रूप में भी खेले जाते थे। मागध और बंदी अपने वाद्य-यंत्रों के साथ जगह-जगह घूमकर किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अथवा घटना की महिमा गाया करते थे और संगम युग में उनका यह कार्य काफी लोकप्रिय था। आरंभ में चारण (पोरुनार) युद्ध में संलग्न सैनिकों में सामरिक भाव को जगाने और युद्ध में विजय मिलने पर उनकी विजय-गाथा गाने का काम करते थे। उनकी गतिविधियाँ सिर्फ युद्ध क्षेत्र में सैनिकों को प्रोत्साहित करने तक ही सीमित नहीं थीं, बल्कि उनके संबंध में संदेश को घर तक पहुंचाने का काम भी शामिल था। समाज में उनका बहुत आदर था और राजा भी उन्हें सम्मानित करते थे। 'पोरुनार' के अतिरिक्त 'पनार' भी थे जो जनसामान्य का मनोरंजन किया करते थे।

14.9 धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान

साहित्यिक स्रोत संगम युग में धार्मिक कृत्यों का विशद उल्लेख करते हैं। ब्राह्मणवाद, जैनधर्म, बौद्ध धर्म सभी इस युग में साथ-साथ चलते थे। तमिल प्रदेश में बौद्ध धर्म और जैन धर्म ईसा की प्रथम शताब्दी में आए। इस अवधि में शैव और वैष्णव जैसे ब्राह्मण-पंथ भी सुविदित धर्म थे।

संगम कृतियों में वैदिक लोगों के आगमन और तमिलों के धर्म के साथ उनके धर्म के पारस्परिक प्रभाव की चर्चा उनके स्थलों पर हुई है। 'सिलप्पादिकरम' 'त्रिगुण पवित्रअग्नि', 'द्विज प्रकृति' 'छह कर्तव्य' तथा अन्य ब्राह्मणवादी विचारों और अवधारणाओं की चर्चा करता है। 'तोल्काप्पियम' में भी ब्राह्मण-विहित छह कर्तव्यों का उल्लेख है। ब्राह्मणवादी अनुष्ठान एवं संस्कार पूरी तरह प्रचलन में थे। उदाहरणस्वरूप अनेक संगम काव्यों में अनेक यज्ञीय भवनों वाले पांड्य नृप की चर्चा हुई है।

'तोल्काप्पियम' में जिन चार देवताओं की चर्चा हुई है वे हैं- मुरुगन, तिरुमल, वेंदन (इंद्र), और वरुणा। इंद्र की पूजा वर्षा के देवता के रूप में होती थी और उसके सम्मान में एक वार्षिकोत्सव मनाया जाता था। 'पत्तिनप्पालाई' में मुरुग की पूजा का जिक्र मिलता है। मुरुग शिव का पुत्र है। इन देवताओं के अतिरिक्त लक्ष्मी (समृद्धि की देवी), वनों के संरक्षक

के रूप में मायँन (पञ्चवर्ती विष्णु), बलदेव, कामन (प्रणय-देव), चन्द्रदेव, समुद्रदेव तथा अन्य देवताओं की भी पूजा होती थी।

संगम युग के लोग भूत-प्रेत में भी विश्वास करते थे। 'सिलप्पादिकरम' में भूत की चर्चा मिलती है। अनेक लोग पेड़ों, युद्ध क्षेत्रों और श्मशानों में निवास करने वाले ऐसे दुष्टात्माओं में विश्वास करते थे जो रक्तपान करते हैं और रक्त सने हाथों से बाल संवारते हैं। उसी ग्रंथ में छोटे देवताओं- जैसे मदुरा और पुहार जैसे अभिभावक देवता- का जिक्र आया है। वे ग्राम-देवताओं, टोटम (गणचिह्न) के प्रतीकों और क्रूर देवताओं को तुष्ट करने के लिए यज्ञ-विधान में भी विश्वास करते थे। वृक्षों, झरनों और पर्वत-शिखरों पर निवास करने वाले देवताओं में विश्वास और उनकी पूजा-अर्चना की परंपरा से स्पष्टतः जीववाद के प्रचलन का पता चलता है। मृतवीरों, सतियों और अन्य शहीदों को भी देवत्व प्रदान कर दिया जाता था।

संगमयुग में ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्ध और जैनधर्मों के प्रवेश से तमिलों के दार्शनिक विचार बहुत हद तक प्रभावित हुए। इन विचारधाराओं ने ज्ञान को पदार्थ (भौतिकता) से बेहतर माना। बौद्धों और जैनों ने लोगों का आह्वान किया कि वे पदार्थ से परे जगत के बारे में सोचें। अनेक विद्वानों का मत है कि उस काल के दो प्रसिद्ध महाकाव्यों में 'सिलप्पादिकरम' जैन था और 'मनिमेकलाई' बौद्ध।

शैववाद और वैष्णववाद भी महत्त्वपूर्ण धार्मिक मत थे। 'शैववाद' पद सिर्फ 'मनिमेकलाई' में आया है। यद्यपि देवता के रूप में शिव की चर्चा अन्य ग्रंथों में नहीं हुई है, उसे उसके सहज गुणों के रूप में चित्रित किया गया है, जैसे- प्राचीन प्रथम ईश्वर, सुंदर नीले कंठ वाले भगवान और वटवृक्ष के नीचे स्थित भगवान इत्यादि। इससे प्रतीत होता है कि आरंभिक काल में शैववाद और वैष्णववाद दोनों तमिल प्रदेश में सिर्फ सिद्धांत में प्रचलित थे, नाम से नहीं। यद्यपि 'तोल्काप्पियम' मुरुगदेव (शिव का पुत्र) और मायँन (विष्णु का आरंभिक नाम) की चर्चा तो करता है, लेकिन शैववाद और वैष्णववाद का स्पष्ट उल्लेख नहीं करता। संभवतः इन दो पंथों का दो भिन्न संप्रदायों में संक्रमण संगम युग में हो रहा था।

संगम युग के लोग स्वप्नों और मानव-जीवन पर ग्रहों के प्रभाव में भी विश्वास करते थे। कुछ लक्षण तो आमतौर पर अनिष्टकर माने जाते थे। उदाहरणस्वरूप, कौओं का कांव-कांव किसी अतिथि के आगमन का सूचक था। और उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा की जाती थी। 'कुरुंतोगाई' के अनुसार कौआ एक शुभ अग्रदूत माना जाता था और उसे चावल और घी खिलाया जाता था।

संगम धर्म का परिष्कृत पक्ष था मंदिरों में देवी-देवताओं की पूजा। अनेक संगम ग्रंथों में शिव, मुरुग, बलदेव, विष्णु, कामन और चन्द्रदेव के मंदिरों की स्पष्ट चर्चा हुई है। 'मनिमेकलाई' एक विशाल ईंट के मंदिर 'चक्रवाह कोट्टम' का जिक्र करता है। फिर भी अनेक मामलों में, जैसा कि आज भी होता है, देवता प्रायः वृक्षों के नीचे स्थापित किए जाते थे। पूजा की विधि में नृत्य, पुष्प-अर्पण, तंडुल और मांस के चढ़ावे आदि शामिल थे। 'सिलप्पादिकरम' में देवताओं की प्रस्तर-प्रतिमाओं का जिक्र मिलता है। यह ईसा पूर्व तीसरी सदी के 'लिंगम' के रूप में टी.ए. गोपीनाथ राव द्वारा की गई पुरातात्विक खोज से भी अभिप्रमाणित होता है।

संगम युग के तमिल जन्म और मृत्यु के अवसरों पर आनुष्ठानिक अस्वच्छता में भी विश्वास करते थे। मृतकों को दफनाया अथवा जलाया जाता था अथवा खुले में गिद्धों या शृंगालों के भोजन के लिए छोड़ दिया जाता था। 'मनिमेकलाई' में श्मशानों का उल्लेख हुआ है जहाँ अनेक प्रकार के भूत-प्रेत रहते थे।

14.10 उपसंहार

इस प्रकार संगम साहित्य के अध्ययन से जो तस्वीर उभरती है उससे पता चलता है कि दक्षिण भारत में उस समय पहली बार राज्य की अवधारणा पनपी। लेकिन अभी भी यह ठोस स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकी थी। इस काल की अनेक परंपराएँ पञ्चवर्ती कालों में भी जारी रहीं और कुछ तो आज भी चल रही हैं।

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. संक्षिप्त टिप्पणी

- (i) संगम साहित्य
- (ii) संगम कालीन व्यापार

ख. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

- (i) संगम साहित्य में वर्णित आर्थिक स्थितियों की चर्चा करें।
- (ii) संगम कालीन लोगों के सामाजिक-धार्मिक जीवन का विवरण दें।

सारांश

- संगम कविता प्राचीन तमिलकम में एक जीवंत और परिष्कृत साहित्यिक संस्कृति के अस्तित्व को प्रदर्शित करती है।
- संगम राज्य-व्यवस्था ऐसी पितृसत्तात्मक और पुरुषतन्त्री प्रणाली पर आधारित थी जिसमें प्रशासन तंत्र तथा अन्य कार्यालय सीधे राजा द्वारा नियंत्रित किए जाते थे।
- इसमें हम ब्राह्मणों के प्रभुत्व के फलस्वरूप सामाजिक विषमताएँ भी देखते हैं। लेकिन तीव्र वर्ग-विभेद, जो आगे चलकर पैदा हुआ, से संगम युग मुक्त था।
- कृषि संगम युग की अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ थी। व्यापारिक क्रियाकलाप विशेषकर भूमध्यसागरीय जगत से व्यापारिक संबंध के फलस्वरूप अर्थ-व्यवस्था और सुदृढ़ हो गई।
- सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित किया। संगम जनता के विश्वास और रिवाजों से उनके धर्म की जटिल प्रकृति का बोध होता है। संगम युग में जीववाद तथा मूर्तिपूजा दोनों का चलन था।

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. (i) सही (ii) सही (iii) सही (iv) गलत (v) सही

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. सिलप्पादिकरम और मनिमेकलाई

ख. अहनानुरु, पुरानानुरु, कुरुंतोगाई

ग. (i) वेंतन (ii) सुर्रम (iii) ऐपेरुंकुलु और एंपेरायम (iv) वेलिर और अ-वेलिर

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. संक्षिप्त टिप्पणी

(i) देखें खंड 14.5 (ii) देखें खंड 14.7.3

ख. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

(i) देखें खंड 14.7 (ii) देखें खंड 14.8 & 14.9

पाठ 15

गुप्त और उनके समकालीन: राज्य और प्रशासकीय संस्थाएँ

पाठ्य रूपरेखा

- 15.0 उद्देश्य
- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ
- 15.3 स्वर्णयुग का मिथक
- 15.4 गुप्तों का उद्भव
 - 15.4.1 चन्द्रगुप्त प्रथम
 - 15.4.2 समुद्रगुप्त
 - 15.4.3 चन्द्रगुप्त द्वितीय
- 15.5 गुप्त प्रशासन
- 15.6 भूमि-अनुदान
- 15.7 सामाजिक-आर्थिक बदलाव
 - 15.7.1 सामाजिक बदलाव
 - 15.7.2 आर्थिक बदलाव
- 15.8 धार्मिक जीवन
- 15.9 कला और संरक्षण
- 15.10 साहित्य
- 15.11 नए राज्यों का उदय
 - 15.11.1 वाकटक
 - 15.11.2 मैत्रक
 - 15.11.3 दक्कन और तमिलकम
- 15.12 उपसंहार
- 15.13 सारांश

15.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन आपको निम्नलिखित विषयों में सक्षम बनाता है:

- चौथी से सातवीं सदी तक के प्रशासकीय, आर्थिक और सामाजिक विकास की समझ
- गुप्तकाल के उदय और विकास के कारणों की समीक्षा

- उन प्रक्रियाओं की पड़ताल जो गुप्तों के पतन और अन्य राजनीतिक शक्तियों के उदय का कारण बना

15.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत के इतिहास में ईसा की चौथी से सातवीं सदी की अवधि इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से संक्रमण की अवधि थी। अवधि के संबंध में विवाद तो है किंतु उसके अध्ययन के लिए पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है। इतिहास-लेखन के महत्वपूर्ण मतों के संबंध में संक्षिप्त रूपरेखा हमें गुप्तों और हर्ष के भारत के बारे में अध्ययन में आए मतांतरों से परिचित कराएगी।

15.2 ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ

ब्रिटिश भारत के विंसेंट स्मिथ जैसे औपनिवेशिक अथवा शाही लेखकों ने प्राचीन भारत को 'अंधा युग' के रूप में चित्रित किया है और उनके अनुसार इसी के फलस्वरूप अंग्रेजों को भारत में 'फूट डालो और राज करो' में सफलता मिली। इसके प्रतिक्रियास्वरूप राष्ट्रवादियों ने भारतीय इतिहास के अवधि-निर्धारण का कार्य किया (प्राचीन भारत को हिंदू भारत, मध्यकालीन भारत को मुस्लिम भारत और ब्रिटिश भारत को भारत पर ब्रिटिश शासन का समानार्थक माना)। आर.सी. मजुमदार, के.के.दत्ता, एच.सी. राज चौधरी जैसे राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने प्राचीन भारत की उपलब्धियों को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया और उसे 'स्वर्णयुग की संज्ञा दी।

राष्ट्रवादियों की दृष्टि में गुप्त काल राष्ट्रीय एकता, आर्थिक संपन्नता, कला, स्थापत्य और साहित्य में अपनी उपलब्धियों के कारण प्राचीन भारतीय इतिहास की अन्य सारी अवधियों से आगे निकल गया। स्वातंत्र्योत्तर काल में मार्क्सवादी इतिहासकारों ने राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की समीक्षा करते हुए गुप्तकाल और उसके अनंतर के लिए 'भारतीय सामंतवाद का सिद्धांत' प्रस्तुत किया। आर.सी. गुप्ता, बी.एन.एस. यादव, डी.एन. झा इत्यादि मार्क्सवादी इतिहासकारों का मानना था कि गुप्तों ने ब्राह्मणों को कर संबंधी सुविधाओं के साथ नियमित रूप से भूमि प्रदान करना शुरू किया और गुप्तवंश के बाद के शासकों ने आरंभ में ब्राह्मण मंदिरों को राजस्व विकारों के साथ प्रशासकीय और न्यायिक अधिकार प्रदान किए और बाद में यही सुविधा पदाधिकारियों और सौदागरों को देने लगे। इस तरह गुप्तों और हर्ष समेत उनके उत्तराधिकारियों ने एक ऐसे सामंती ढांचे को स्थापित कर दिया जिसमें भू-संपन्न मध्यस्थ लोग ग्रामीण सामाज और राजनीतिक दृष्टि से विखंडित और विकेंद्रीकृत भारत पर शासन करते थे। भूमि अनुदान से अर्थ-व्यवस्था में सामंतवाद को बढ़ावा मिला, क्योंकि गुप्तों के बाद के काल में व्यापार और नगरीकरण हासोन्मुख हो गए। कृषक वर्ग पर भारी कर-भार लाद दिया गया। भारतीय सामंतवाद के धार्मिक और सांस्कृतिक पक्षों में पाखंडी तांत्रिकों की तूती बोलने लगी। 'भारतीय सामंतवाद' की समीक्षा के रूप में बी.डी. चट्टोपाध्याय और हर्मेन कुल्वेफ ने गुप्तकालोत्तर भारत या आरंभिक मध्यकालीन भारत के अध्ययन के लिए राज्य-निर्माण का समाकलनात्मक सिद्धांत प्रस्तुत किया। चट्टोपाध्याय और कुल्वेफ का तर्क था कि ब्राह्मणों और मंदिरों को प्रदत्त भूमि अनुदान वृहत्तर और लघुतर राज्यों की राजनीतिक सत्ता को विकेंद्रीकृत करने के बदले देहाती क्षेत्रों में राजकीय सत्ता के उपयोग को वैधता प्रदान करता था और इसके फलस्वरूप क्षेत्रीय इकाइयाँ और नायक उदीयमान स्थानीय, उपक्षेत्रीय तथा क्षेत्रीय राज्यों में संघटित हो जाते थे। बी.पी. साहू गुप्त और उसके बाद के काल के राज्यों के समाकलित प्रक्रियात्मक प्रतिमान की चर्चा करते हैं। नंदिनी सिन्हा कपूर ने गुप्त साम्राज्य के प्रायः दो समकालीन राज्यों- विदर्भ में वाकाटक और गुजरात में मैत्रक- के निर्माण में समाकलनात्मक शक्तियों की भूमिका दर्शायी है। विघटन के बदले समाकलनात्मक प्रतिमान प्राचीन भारत के इतिहास में समाकलित शक्तियों को उजागर करता है।

15.3 स्वर्णयुग का मिथक

इतिहासकारों ने जिस युग में 'स्वर्णयुग' कहा है उसमें, अर्थात् गुप्तयुग में जीवन का प्रत्येक पक्ष उनके अनुसार उत्कर्ष के शिखर पर था। गुप्तकाल को मुख्य रूप से इसलिए चुना गया क्योंकि उसमें संस्कृत में उत्तम कोटि के साहित्य की रचना हुई और कला की गुणवत्ता में खासी वृद्धि हुई। इसे 'ब्राह्मणीय पुनर्जागरण' के रूप में भी देखा गया। चूंकि इसके पूर्व भारतीय सभ्यता को हिन्दूवादी और संस्कृत प्रधान माना गया था, इसलिए ब्राह्मणवादी संस्कृति के आरंभिक प्रसार को अभूतपूर्व पैमाने पर 'उच्च' संस्कृति स्वर्णकाल की संज्ञा दी गई।

सुदूर अतीत को इस बात का लाभ मिलता था कि उसके पुनर्निर्माण में कल्पना की अहम भूमिका थी। अब चूंकि इतिहासकार समाज के सभी पक्षों पर टिप्पणियाँ देने लगे हैं, स्वर्ण युग, जो अपने भीतर सम्पूर्ण को समेटता है, की अवधारणा पर प्रश्न उठने लगे हैं। स्वर्णयुग समृद्ध वर्ग को प्रतिबिंबित करता था। इस युग को उन्हीं के क्रिया-कलाप स्वरूप प्रदान करते थे। भारत के इतिहास में कम-से-कम तीन काल ऐसे हैं जब कलात्मक और साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ काफी स्तरीय रही हैं। ये काल हैं- मौर्योत्तर और गुप्त काल, चोल वंश का काल और मुगल काल। गुप्तकालीन संस्कृति का पुरोगामी उत्तर भारत तक सीमित नहीं था क्योंकि दक्कन में संस्कृतियों के विलक्षण विकास के उदाहरण मिलते हैं।

गुप्तकाल का श्रेण्यवाद (classicism) गुप्तशासन का प्रवर्तन नहीं है अपितु यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो पूर्व में ही शुरू हुई और जिस की परिणति गुप्तकाल में हुई। उत्तर भारत में गुप्त काल के पूर्व नवीन कलात्मक रूप-विधानों का श्रीगणेश हुआ। इन नए रूप-विधानों का संबंध बौद्ध धर्म से था और इनके सामानांतर रूप अन्य धार्मिक पंथों में भी मिलते हैं। तकनीकी विषयों और अनेक प्रकार के सर्जनात्मक साहित्य की रचना इसके प्रमाण हैं। अधिकांश रचनाएँ संस्कृत में हुईं और इसने एक प्रकार का सामाजिक और सांस्कृतिक आधार प्रदान किया, लेकिन इसने अन्य संस्कृतियों को भी उत्प्रेरणा दी। गुप्त काल का श्रेण्यवाद के रूप में चित्रण उच्च वर्गों पर ही विशेष रूप से लागू होता है। उनके साहित्य और कला में वर्णन के अनुसार ये लोग सुखी जीवन व्यतीत करते थे। पुरातत्त्वशास्त्र से प्राप्त अधिक सटीक और तथ्यपरक साक्ष्य से पता चलता है कि अधिकांश लोगों की जीवन-शैली बिलकुल सामान्य थी। खुदाई किए गए स्थलों से संकेत मिलता है कि गुप्त वंश के पूर्व काल में औसत जीवन-स्तर बेहतर रहा होगा।

15.4 गुप्तों का उद्भव

गुप्त परिवार के उद्भव और पूर्ववर्तियों के संबंध में प्राप्त साक्ष्य अपर्याप्त हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका उद्भव अज्ञात स्रोतों से हुआ। यह परिवार, संभवतः मगध में एक छोटी-सी जागीर पर शासन करता था लेकिन हाल की खोजों के अनुसार उनका आधार गंगा का पश्चिमी मैदान था। नाम से वे वैश्य जाति के प्रतीत होते हैं लेकिन कुछ इतिहासकार उन्हें ब्राह्मण कुल का मानते हैं। गुप्त राजवंश के एक बाद के राजा की प्रशस्ति से ऐसा संकेत मिलता है कि कुषाणों के पतन के बाद अनेक छोटे-छोटे राज्य थे और गुप्तों का भी एक ऐसा ही राज्य रहा होगा।

15.4.1 चन्द्रगुप्त प्रथम

चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्यारोहण के साथ इस राजवंश का अभ्युदय हुआ। उसने अपने राज्य को एक जागीर से ज्यादा विस्तार दिया। चन्द्रगुप्त ने उत्तर बिहार के एक पुराने गण-संघ के लिच्छवी परिवार में विवाह किया। इस विवाह ने परिवार की स्वीकार्यता पर मुहर लगा दी और राजनीतिक दृष्टि से उनके लिए लाभकर सिद्ध हुआ क्योंकि चंद्रगुप्त प्रथम ने अपने सिक्कों में इसको प्रधानता दी। उसका शासन गंगा की मध्यभूमि (मगध, साकेत और प्रयाग) पर फैला था

और उसने महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण की हालांकि इस उपाधि का महत्त्व बहुत घट गया था क्योंकि इसका उपयोग अनेक छोटे-बड़े शासक करते थे। गुप्तसंवत् 319-20 ई. उसके राज्यारोहण का यादगार का सूचक है।

15.4.2 समुद्रगुप्त

समुद्रगुप्त का दावा था कि उसके पिता ने लगभग 335 ई. में उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। एक अशोक स्तंभ, जो अभी इलाहाबाद में है, पर उसकी लंबी प्रशस्ति उसके शासन काल की आधारभूत जानकारी प्रदान करता है। यदि इस प्रशस्तिगान को शाब्दिक अर्थ में लिया जाए तो यह उपमहादेश के विभिन्न भागों में समुद्रगुप्त के विजय-अभियान में पराजित राजाओं और शासन-क्षेत्रों की लंबी सूची प्रस्तुत करता है। परवर्ती काल की ऐसी विजय सूचियाँ, प्रायः दरबारी वाक्पटुता का अंग थीं लेकिन समुद्रगुप्त के संदर्भ में दरबारी कवि की अतिरंजना अधिक सीमित रही होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेत्रों को अपने राज्य में मिलाने की अपेक्षा कर या नजराना चुकाने पर जोर दिया गया है। इस काल में उत्तर भारत- मुख्य रूप से दिल्ली और गंगा की पश्चिमी मैदान के आसपास- के चार राजाओं पर विजय पाई गई। दक्षिण और पूरब के राजे बंदी बनाए गए, मुक्त कर दिए गए और इसके लिए उन्हें समुद्रगुप्त के प्रति आभार स्वीकार करना पड़ा। उल्लिखित स्थानों से प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त ने अपना अभियान पूरबी तट पर कांचीपुरम (आधुनिक चेन्नई के निकट) तक चलाया। उत्तर भारत में आर्यावर्त के नौ राजों को बलपूर्वक उखाड़ फेंका गया। मध्यभारत और दक्कन के जंगली क्षेत्रों के राजाओं को अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। छठी सदी के एक शिलालेख के अनुसार मध्यभारत के अठारह जंगली राज्यों को एक स्थानीय शासक द्वारा उत्तराधिकार में पाया गया। इससे संकेतित होता है कि इन क्षेत्रों पर विजय पूर्व में ही मिलने लगी थी। पूरबी भारत के राजे और नेपाल और पंजाब के छोटे-छोटे राज्य कर चुकाते थे। राजस्थान में पूर्व के गण-संघों में नौ, जिनमें मालव और योद्धा शामिल थे, को गुप्त का अधिराज्य स्वीकार करना पड़ा। इसके अतिरिक्त दूर के अनेक शासक, दैव पुत्र शाहानुशाही (देवता का पुत्र, राजाओं का राजा, स्पष्टतः एक कुषाण उपाधि), शक और सिंहल (श्रीलंका) के राजा भी कर चुकाते थे, जैसाकि सभी टापुओं के निवासी भी करते थे।

इन विजयों की एक रोचक विशेषता थी उनकी विविधता और जिसमें सरदारी से लेकर राज्य तक शामिल थे। समुद्रगुप्त ने जल विभाजक और उत्तरी राजस्थान में सरदारों की शक्ति को नष्ट कर डाला। इसका एक दुष्परिणाम बाद के गुप्तों के लिए हुआ जब हूणों ने उत्तर-पश्चिम भारत पर हमला किया। इसके अतिरिक्त, सरदारियों का अंत उस गणसंघीय शासन-व्यवस्था के लिए मौत की घंटी साबित हुआ जो एक सहस्राब्दी से राजतंत्र के विकल्प के रूप में चला आ रहा था। जहाँ तक श्रीलंका का प्रश्न है, इसका चीनी स्रोत यह साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि सिंहल के राजा ने गुप्त राजा के पास उपहार भेजे और गया में एक बौद्ध मठ बनाने की अनुमति माँगी। ऐसा अनुरोध शायद ही नजराना माना जा सकता है। द्वीपों के निवासी कौन थे, यह स्पष्ट नहीं हो सका है और संभवतः दक्षिण-पूरबी एशिया के कुछ हिस्सों को सूचित करता है जो भारतीय अधिवासों की मेहमानदारी करते थे और जिनके साथ उनके संपर्क बढ़े थे।

समुद्रगुप्त को अपने विजय अभियान को उद्धोषित करने के लिए अश्वमेघ यज्ञ करने के पक्ष में अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक कारण थे।

15.4.3 चन्द्रगुप्त द्वितीय

सभी गुप्त राजाओं में चन्द्रगुप्त द्वितीय, समुद्रगुप्त का पुत्र, ने असाधारण उदार चेतना और वीरता प्रदर्शित की। लगभग 375 ई. से 415 ई. तक चालीस वर्षों का उसका शासन काल कैसे शुरू हुआ यह अब भी एक रहस्य का विषय है। लगभग दो शताब्दी बाद में समुद्रगुप्त की मृत्यु संबन्धी घटनाओं पर लिखित नाटक, 'देवी चंद्रगुप्त, में रामगुप्त को

समुद्रगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी के रूप में चित्रित किया गया है। कहा जाता है कि रामगुप्त युद्ध में शकों से हार गया और उसने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को उन्हें समर्पित कर देने पर सहमति दे दी। इससे उसका छोटा भाई चन्द्र चिढ़ गया। उसने रानी का छद्मवेश धारण किया और शक राजा के महल में जाकर उसे मार डाला। अपने इस कृत्य से वह जनता के बीच तो प्रिय बन गया किंतु अपने भाई राम से उसकी दुश्मनी हो गई। अंततः चन्द्र ने राम को मार डाला और ध्रुवदेवी से शादी कर ली। रामगुप्त के सिक्कों और ध्रुवदेवी का चन्द्रगुप्त की पत्नी के रूप में, शिलालेख पर अंकन की खोज से इस कहानी को किसी हद तक प्रामाणिकता मिलती है।

इसके अतिरिक्त, चन्द्रगुप्त का महत्त्वपूर्ण अभियान शकों के साथ युद्ध का था। इस अभियान के फलस्वरूप पश्चिमी भारत इसके साम्राज्य में जुड़ गया। इसकी याद में विशेष चांदी सिक्के निर्गत किए गए। इसका महत्त्व सिर्फ इतना ही नहीं था कि भारत की पश्चिमी सीमा सुरक्षित हो गई बल्कि इससे पश्चिमी जगत के साथ व्यापारिक संबंध भी जुड़ गया क्योंकि अब पत्तन गुप्तों के अधिकार में थे। पश्चिमी दक्कन, जो पहले सातवाहनों के अधिकार में था, अब वकाटक वंश द्वारा शासित होने लगा और यह वंश दक्कन में प्रभुत्वसंपन्न सत्ता के रूप में उभरा।

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. संक्षिप्त टिप्पणी:

- (i) समुद्रगुप्त
- (ii) गुप्तों का स्वर्णकाल

15.5 गुप्त प्रशासन

गुप्त राजाओं ने अनेक उच्च उपाधियाँ जैसे- महाराजाधिराज, परमेश्वर इत्यादि धारण की। लेकिन पञ्चवर्ती शासकों के मामले में ये उपाधियाँ अतिरंजित हो गई क्योंकि उनके दावेदार पूर्ववर्ती शताब्दियों के 'महान राजाओं' की तुलना में सीमित राजनीतिक सत्ता के अधिकारी थे। इन भव्य उपाधियों में उत्तर-पश्चिम के शासकों की उपाधियों की अनुगूँज सुनाई पड़ती है और उन्हीं की तरह इनमें देवत्व का पुट शामिल है।

गंगा की घाटी में गुप्तों के सीधे नियंत्रण में राजा प्रशासन के केंद्र में था और राजकुमार, मंत्रिगण और सलाहकार उसके सहायक थे। राजपुत्र भी प्रांतों के वायसराय (उपराजा) के पद संभालते थे। प्रांत (देश, राष्ट्र अथवा भुक्ति) अनेक जिलों (प्रदेश अथवा विषय) में बंटे होते थे और प्रत्येक जिला का अपना प्रशासनिक अधिकारी होता था लेकिन सारे व्यावहारिक मामलों में स्थानीय प्रशासन केंद्र पर निर्भर नहीं था। निर्णय चाहे नीतिगत लेने हों अथवा विशेष स्थितियों के संबंध में, स्थानीय स्तर पर ही लिए जाते थे जब तक कि उनका संबंध केंद्रीय सत्ता की नीतियों अथवा आदेशों से नहीं हो।

यह मौर्य प्रशासन से स्पष्ट रूप में भिन्न था। जहाँ अशोक इस बात पर बल देता था कि वह जो कुछ भी घटित हो रहा है उससे वाकिफ़ रखा जाए, वहाँ गुप्त राजा इसे कुमारमात्यों और आयुक्तों को सौंप कर संतुष्ट रहते थे। अर्थशास्त्र में एक चुस्त-दुरूस्त प्रशासन की चर्चा अवश्य हुई है, लेकिन यह एक नियामक ग्रंथ था और शिलालेखों तथा मुहरों के साक्ष्य से संकेत मिलता है कि गुप्त प्रशासन अपेक्षाकृत अधिक विकेंद्रीकृत था और पदाधिकारी एक से अधिक पद भार रखते थे। हर्ष का दौर एक शाही निरीक्षक जैसा था क्योंकि वह प्रशासन की सामान्य कार्यप्रणाली और कर-वसूली की जांच-पड़ताल करता था, परिवारों को सुनता था और उदारतापूर्वक दान देता था।

गांवों के अनेक वर्ग थे: ग्राम, पल्ली, गुल्म (सैन्य अधिवास), खेतक, इत्यादि। वे सभी मुखिया और ग्रामीण गुरुजनों वाले ग्राम निकायों के अधीन थे। इन ग्रामीण गुरुजनों में कुछ ग्राम-अध्यक्ष अथवा कुटुम्बी के पदभार संभालते थे। शहरी प्रशासन में प्रत्येक नगर में एक परिषद होती थी जिसमें नगर श्रेष्ठी (नगर निगम का अध्यक्ष), सार्थवाह (व्यापारी-संघ का मुख्य प्रतिनिधि), प्रथम-कुलिक (शिल्पकारों का प्रतिनिधि) और प्रथम-कायस्थ (प्रधान लिपिक या मुंशी) होते थे। इस परिषद और समिति में भेद बतलाते हुए मेगास्थनीज और कौटिल्य ने लिखा है कि पहले की सरकारें समितियाँ नियुक्त करती थीं जबकि गुप्त प्रणाली में परिषद में स्थानीय प्रतिनिधि होते थे जिनमें वाणिज्यिक हितों की प्रधानता होती थी।

यदि मौर्य राज्य मुख्यतः वर्तमान अर्थव्यवस्था से राजस्व वसूलने अथवा राज्य के हस्तक्षेप के द्वारा किसानों के कृषि-विस्तार पर ध्यान देते थे तो गुप्त राज्य और इसके समकालीनों ने आरंभिक कोशिशें कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए किया। यह प्रणाली इस अवधारणा से विकसित हुई कि शासन व्यवस्था के समर्थन के रूप में भूमि-अनुदान किसी यज्ञ से ज्यादा प्रभावी होगा और भूदान महादान है। राजा के द्वारा यह निवेश उर्वर व सिंचित भूखंडों पर कृषि को उन्नत करने और बंजर भूमि पर अधिवास को प्रोत्साहन देने के लिए अभिप्रेरित था। परिधि पर स्थित क्षेत्र इस तरह वृहत्तर कृषिक अर्थव्यवस्था में लाए जा सके और आरंभिक अनुदान गंगा के हृदय स्थल में नहीं बल्कि उसके बाहर के क्षेत्र में दिए गए। चूंकि भूमि अनुदान के प्रापकों से पहल करने की उम्मीद थी इसलिए कृषीय अधिवासों की स्थापना में राज्य पर जोर धीरे-धीरे घटता गया।

15.6 भूमि-अनुदान

भूमि-अनुदान धार्मिक और आनुष्ठानिक विशेषज्ञों अथवा पदाधिकारियों को दिए जाते थे। इससे राज्य को राजस्व तो नहीं प्राप्त होता था लेकिन स्थानीय स्तर पर राजस्व की मांग में कुछ उलट-फेर हो जाती थी और देहाती इलाकों में संपन्नता के ऐसे छोटे-छोटे केंद्र बन जाते थे जिनका अनुकरण अधिक व्यापक उन्नयन का मार्ग प्रशस्त कर सकता था। यदि ब्राह्मणों (चाहे वे आनुष्ठानिक विशेषज्ञ हों अथवा पदाधिकारी) को दी गई भूमि बंजर अथवा जंगली थी तो प्रापक (प्राप्तकर्ता) उस पर कृषि कार्य शुरू कर अन्य लोगों का मार्गदर्शक बन सकता था। ब्राह्मण 'कृषिपाराश्र' जैसी कृषि-पुस्तिकाएं पढ़कर कृषि कार्यों में प्रवीण हो गए। कुछ नियामक ग्रंथ ब्राह्मणों को को कृषिकार्य से मना करते हैं, लेकिन उनके कृषीय कौशल में कोई कमी नहीं आई।

वाणिज्यिक उद्यम को शिल्पी संघों को दान देकर प्रोत्साहित किया गया हालांकि उससे प्राप्त ब्याज धार्मिक संस्थाओं को दे दिया जाता था। इसके साथ ही वाणिज्यिक उद्यमियों को नगर-परिषदों में और निवेश तथा लाभ वाले पदों पर रखा गया। वाणिज्य से प्राप्त होने वाले करों का दायरा बढ़ाया गया जो बदले में पदाधिकारियों की क्रम-श्रृंखला में विस्तार की अपेक्षा रखता था। यद्यपि भूमि-अनुदान आरंभ में बहुत कम था, लेकिन लगभग आठवीं सदी तक इसका विस्तार हो गया और इसने धीरे-धीरे राजनीतिक अर्थव्यवस्था का रूप ले लिया जो गुप्त काल के पूर्व से स्पष्ट रूप से भिन्न था।

जो राजा पड़ोस के राज्यों को जीत लेते थे वे पराजित राजाओं को सहायक या अधीनस्थ शासक बना लेते थे। इसे वर्तमान लेखक सामंत का नाम देते हैं। ऐसे शासकों के साथ समझौता वार्ताएँ भी चलती थीं। 'सामंत पद, जिसका मूल अर्थ पड़ोसी था, का अर्थ बदलकर सहायक शासक हो गया। इसका निहितार्थ यह था कि राजा और स्थानीय शासकों के बीच संबंध अधिक परिभाषित हो गए। आगे चलकर शाही दावों और सामंती आकांक्षाओं के बीच के खींचतान में

ये संबंध निर्णायक बन गए। जहाँ सामंत सुदृढ़ स्थित में थे, वहीं राजा की शक्ति घट गई। लेकिन उसे अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए सामंतों की मौन स्वीकृति आवश्यक थी। सामंत संभावित मित्र अथवा दुश्मन की द्वैध स्थिति में थे।

सहायक शासकों के अतिरिक्त भूमि-अनुदान ने अन्य संवर्गों के मध्यस्थ भी क्रायम कर दिए थे। अनुदान के धार्मिक लाभभोगियों में मंदिर, मठ और ब्राह्मण शामिल थे। ऐसे अनुदान उन धार्मिक पंथों को सशक्त बनाते थे जो मंदिरों का प्रबंधन देखते थे। मंदिरों के रख-रखाव के लिए उन्हें गांव भी दे दिए जाते थे। इससे स्थानीय प्रशासन की भूमिका में मंदिर-प्रबंधन भी शामिल हो गया। अपने-आप में वह एक पवित्र स्थल तो था ही। ऐसे समय में जब भूमि-अनुदान विशेष कृपा के प्रतीक थे। इसे प्राप्त करने वाले ब्राह्मण निश्चय ही विशेष हैसियत वाले रहे होंगे। किरायामुक्त भूमि या गाँव का अग्रहार अनुदान, ब्राह्मणों को दिया गया ब्राह्मदेय अनुदान और मंदिरों तथा मठों को दिया जाने वाला अनुदान कर-मुक्त होता था। ब्राह्मण प्रायः वेदों अथवा विशिष्ट ज्ञान, विशेष कर फलित ज्योतिष में निपुण होते थे। ब्राह्मणों को उपहार देना कलियुग के अनिष्टकर प्रभाव से बचाव माना जाता था और फलित ज्योतिष का प्रचलन जोरों पर था।

धार्मिक संस्थाओं को मौद्रिक दान का स्थान भूमि-अनुदान ने लेना शुरू किया। भूमि अधिक स्थायी एवं अधिक दान योग्य थी। ऐसे अनुदान ब्राह्मण अनुदानग्राहियों के बीच ज़मींदारी को अधिक बढ़ावा देते थे हालांकि मठ भी इसमें ज्यादा पीछे नहीं रहे। इस अवधि का एक अन्य महत्वपूर्ण लक्षण यह था कि पदाधिकारी यदा-कदा भूमि-अनुदान से प्राप्त राजस्व से पुरस्कृत किए जाते थे जो सैनिक अथवा प्रशासनिक सेवा के लिए नक़द वेतन का एक विकल्प था। इस काल तथा उसके बाद के कुछ भूमि-अनुदान वाले शिलालेखों में इसका जिक्र मिलता है और ह्वेनसांग ने भी इसका उल्लेख किया है। ऐसे अनुदानों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। ब्राह्मणों को दिए गए सारे अनुदान धार्मिक उद्देश्यों के लिए अभिप्रेत नहीं थे क्योंकि अनेक शिक्षित ब्राह्मण सरकारी कार्यों में संलग्न थे। आज्ञाकारिता और संरक्षण के बंधन में जकड़े किसी युद्धप्रिय वर्ग की दासता का उल्लेख आमतौर पर नहीं मिलता।

ऐसे अनुदानों ने उसके मालिकों को केंद्रीय सत्ता से दूर कर दिया और प्रशासन के विकेंद्रीकरण की भूमिका तैयार कर दी। जिन लोगों को राजस्व प्रदान करने वाले भारी भूमि-अनुदान मिले थे, उन्होंने शासक राजवंश को चुनौती देने के लिए पर्याप्त शक्ति और संसाधन इकट्ठे कर लिए। इसके अतिरिक्त यदि वे अपने समकक्षों और जंगली सरदारों जैसे अन्य समूहों को लामबंद कर लेते थे अथवा किसानों को अपनी ओर से लड़ने के लिए बाध्य कर देते थे तो वे विद्यमान सत्ता को उलटकर स्वयं को, कम-से-कम राज्य के सीमा-प्रांतों पर, राजा के रूप में स्थापित कर देते थे।

ब्राह्मण अनुदान वाली भूमि के धार्मिक लाभग्राही थे क्योंकि प्रत्यक्षतः वे राजवंश को मान्यता और वैधता प्रदान करते थे अथवा अनुष्ठानों के सम्यक निष्पादन के द्वारा अनिष्ट को टाल सकते थे। पूर्वकाल के नायकों के साथ अपनी वंशावली को जोड़कर अपनी हैसियत को श्रेष्ठता प्रदान करना आम बात थी। यदि अनुदान भारी-भरकम होता था तो अनुदान ग्राही सत्ता और संसाधनों को अपनाकर एक राजवंश का पूर्वज बन सकता था। अनुदान धर्म प्रचार की प्रक्रिया के भी अंग थे जहाँ अनुदानग्राही अपने धर्म के प्रचार करने का प्रयास करता था। अनेक अनुदान वेदों में पारंगत ब्राह्मणों को दिए जाते थे लेकिन जब वे किसी जंगली क्षेत्र के समीप अथवा गांवों में बस जाते थे और अपने विश्वास और अनुष्ठान को जारी रखते थे तो स्थानीय लोगों के बिलकुल भिन्न रिवाजों के कारण उनके बीच तनाव की स्थिति पैदा हो जाती थी जिसे दोनों तरफ से वार्ता के ज़रिए सुलझाया जाता था। ऐसी स्थिति में पौराणिक संप्रदाय वैदिक ब्राह्मणवाद और स्थानीय लोगों के धर्म के बीच प्रभावी मध्यस्थ का काम करते थे। यदि ब्राह्मण पुरोहित के अनुष्ठान का भार ले भी लेता था तो उसे लचीले और लगातार फैलते पौराणिक संप्रदायों में स्थानीय मिथक विज्ञान और प्रतिमा विज्ञान को समाविष्ट करने की आवश्यकता पड़ती थी।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. सही- गलत बताएँ:

- (i) गुप्त राजाओं ने अनेक उच्च उपाधियाँ जैसे- महाराजाधिराज, परमेश्वर इत्यादि धारण की।
- (ii) गुप्त प्रशासन मौर्य प्रशासन जैसा ही था।
- (iii) सार्थवाह व्यापारियों के समाज का मुख्य प्रतिनिधि होता था।
- (iv) गुप्त काल के दौरान ब्राह्मण कृषि गतिविधियों की निगरानी करने में कुशल बन गए।
- (v) भूमि-अनुदान धार्मिक और आनुष्ठानिक विशेषज्ञों अथवा पदाधिकारियों को दिए जाते थे।

15.7 सामाजिक-आर्थिक बदलाव

15.7.1 सामाजिक बदलाव

परंपरागत इतिहास-लेखन ने गुप्त और गुप्तोत्तर काल में वर्ण-व्यवस्था के चतुर्विध विभाग (चतुर्वर्ण) को प्रक्षेपित किया। लेकिन, आर.सी. हाज़रा के अनुसार आरंभिक पुराण कलियुग का वर्णन विदेशी आक्रमण, अस्थिरता, सामाजिक तनाव, संघर्ष, सुखवादी पंथों के उपदेश के आलोक में देखा जाना चाहिए। लेकिन, रामशरण शर्मा जैसे आधुनिक इतिहासकार कलियुग के आरंभ के लिए जाति सम्मिश्रण (वर्ण-शंकर) और शूद्रों का अभ्युदय (चौथी सदी के आरंभ में) को उत्तरदायी मानते हैं। यह अवधि सामाजिक संकट की अवधि थी। यह ब्राह्मणों और शूद्रों के बीच वैमनस्य का युग था। यह एक ऐसा युग था जिसमें प्रजा कर भार से लदी थी, विधि और व्यवस्था बनाए रखने की समस्या पैदा हो गई थी, परिवार और संपत्ति की सुरक्षा बढ़ गई थी, भौतिकवाद का बोलबाला हो रहा था, चोरी की घटनाएँ बढ़ रही थीं, धार्मिक अनुष्ठान घट रहे थे और मलेच्छ (निम्न जाति) राजाओं की संप्रभुता कायम हो रही थी। विदर्भ के वाकाटक और कांचीपुरम के शिलालेख के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने दोनों की कलियुग के विरुद्ध एकजुटता प्रदर्शित की है। वाकाटकों और पल्लवों के अधीन गाँवों के ब्राह्मणीकरण से सामाजिक अव्यवस्था का संकेत मिलता है। ऐसा माना जाता है कि शासकों ने चौथी सदी से कलियुग को व्यवस्थित करना शुरू किया। वाकाटकों, पल्लवों, गंगों और कादंबों का अभ्युदय शूद्रों के विरुद्ध ब्राह्मणीय प्रतिक्रिया माना जाता है क्योंकि इन राजवंशों की उत्पत्ति ब्राह्मण परिवारों से हुई।

गुप्तकाल के उत्तरार्द्ध से वाकाटकों और पल्लवों ने कलियुग से निबटने के लिए वर्ण-व्यवस्था के अनुसार कठोर नियमों को लागू किया। कलियुग को जारी रखने का एक प्रमुख विधि तंत्र था भूमि-अनुदान। हम पहले चर्चा कर चुके हैं कि गुप्तों और उनके समकालीनों ने धार्मिक लाभग्राहियों, ब्राह्मणों और मंदिर के पुजारियों को तथा बाद में धर्मतर लाभग्राहियों, मंत्रियों, असैनिक तथा सैनिक पदाधिकारियों और सौदागरों को भी भूमि-अनुदान देना शुरू किया। इस प्रकार राज्य और कृषकों के बीच भूधारी मध्यस्थों के हस्तक्षेप का युग शुरू हुआ। भूमि-अनुदान से एक ऐसे श्रेणीकृत ग्रामीण समाज और वर्ग का उद्भव हुआ जो वर्ण-व्यवस्था से मेल नहीं खाता था। जैसा कि अपराजितप्रछा (वास्तुकला पर लिखी गई पुस्तक) से जाहिर होता है, महामांडलिक, मांडलिक, मंडलेश्वर, महासामांत आदि श्रेणियाँ कायम हो गईं, लेकिन इस अवधारणा की समीक्षा करते हुए हर्मन किल्वेफ, बी.डी. शर्मा और बी.पी. साहु स्पष्ट रूप से दावा करते हैं कि कलियुग की अवधारणा को ब्राह्मणों द्वारा लोकप्रिय बनाए जाने के विचार को राज्य निर्माण प्रक्रिया के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। कलियुग के भय ने समुदायों को बाध्य कर दिया कि वे अपने क्षेत्रों के सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के अनुरूप काम करें। ये क्षेत्र पहली बार राज्य-निर्माण की प्रक्रिया से गुजर रहे थे।

पुरालेखीय अभिलेखों के अध्ययन से ज़ाहिर होता है कि भूमि-अनुदान ने पहली बार श्रेणीकृत समाज का निर्माण नहीं किया। बी.डी. चट्टोपाध्याय और नंदिनी सिंहा कपूर ने इस विषय पर शोध अध्ययन में दर्शाया है कि बंगाल, कर्नाटक, राजस्थान और गुजरात में एक ऐसा श्रेणीबद्ध ग्रामीण समाज था जिसमें ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर (गैर-ब्राह्मण) भूमिपति, किसान, कारीगर और भूमिहीन श्रमिक भूमि-अनुदान का प्रचलन आरंभ होने से पहले ही ग्रामीण समाज के घटक बन गए थे। इस अवधि में एक अतिमहत्त्वपूर्ण सामाजिक घटनाक्रम था जातियों का भारी संख्या में अभ्युदय। जातियों की एक बड़ी संख्या ब्राह्मणवादी वर्णधारित समाज में मध्य एशिया के आर्थिक विशेषज्ञों, कबीलों और आप्रवासियों के समावेशन से उत्पन्न हुई।

दास-वर्ग आमतौर पर निम्न जातियों और अस्पृश्यों से आते थे। इस अवधि में श्रमशास्त्र दासों की विस्तृत चर्चा करते हैं और उनके श्रम के अधिकाधिक उपयोग का संकेत देते हैं। लेकिन किराए के श्रमिकों का पहले से अधिक व्यापक पैमाने पर उपयोग किया जाता था। दासों में युद्धबंदी, ऋण-बंधक और दास महिलाओं से उत्पन्न लोग शामिल थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश दास घरेलू कार्यों में नियोजित किए जाते थे। कृषिकार्यों में बंधुआ मजदूर, किराए के मजदूर और विशेषज्ञ के तौर पर अनुबद्ध कार्य करने वाले, बलात श्रम अथवा श्रमकर मुख्य रूप में शामिल थे। अस्पृश्यों की घरेलू कार्यों में नियोजित नहीं किया जाता था। वे स्थानीय भूमिहीन श्रमिक थे।

चीनी बौद्ध संन्यासी फाहियान, जो ईस्वी सन 405 से 411 तक भारत की तीर्थ यात्रा पर था, ने बौद्ध पांडुलिपियों को एकत्र कर सामान्य लोगों की आम सुख-सुविधा का उल्लेख किया है। लेकिन वह इसका भी उल्लेख करता है कि जब किसी उच्च जाति के व्यक्ति को आनुष्ठानिक स्नान करना होता था तो अस्पृश्यों को अपनी सूचना देने के लिए शहर की सड़कों पर घंटी बजानी पड़ती थी। ह्वेनसांग के अनुसार कसाईयों, मछुआरों, कौतुकबाजों, जल्लादों और भंगियों को शहर से बाहर रहना पड़ता था और उनके घर चिह्नित किए जाते थे ताकि उनके स्पर्श से बचा जा सके। फिर भी, कुलमिलाकर चीनी बौद्ध संन्यासी ने भारतीय समाज की सुखद तस्वीर पेश की है।

सामाजिक संरचना का एक अन्य महत्त्वपूर्ण संकेतक है लिंग आधारित संबंधों का सामाजिक स्वरूप। साहित्य और कला में नारियों के आदर्शीकृत रूप से तो ऐसी धारणा बनती है कि नारियों को उच्चतर सामाजिक हैसियत प्राप्त थी। लेकिन, रोमिला थापर जैसे इतिहासकार का कहना है कि ऐसी आदर्शीकृत नारियाँ पूर्णनारी के संबंध में पुरुषों के आदर्श प्रतिमानों से मेल खाती थी और ऐसे प्रतिमान उन्हें पुरुषों के अधीन बना देते थे। उच्चवर्ग की नारियों को सीमित शिक्षा प्राप्त करने की तो अनुमति थी, लेकिन वे पेशागत विशेषज्ञता प्राप्त नहीं कर सकती थीं। संपत्ति और विरासत पर नारियों का सीमित अधिकार था लेकिन वह भी जाति, प्रचलन और श्रेय के अनुसार एक जैसा नहीं था। यद्यपि मातृवंशीय प्रणाली पूर्व में कुल सामाजिक समुदायों में, संभव है, रही हो, नियामक ग्रंथ पितृसत्ता का ही समर्थन करत थे। अतः जो समुदाय सामाजिक क्रम में आगे जाना चाहते थे, वे पितृसत्तात्मक प्रणाली को ही अपनाते थे। बाद की शताब्दियों में उच्च जाति के नारियों की स्थिति की एक अन्य खासियत यही थी कि उनमें बाल विवाह का समर्थन किया जाता था। विधवा को कठोर संयम का जीवन बिताना पड़ता था। क्षत्रिय जाति में तो उसे अपने पति की चिता पर आत्मदाह कर लेना पड़ता था, खासकर उस स्थिति में तो अवश्य ही जब पति की मृत्यु एक सूरमा के रूप में हुई हो। इस सती प्रथा का आरंभिक ऐतिहासिक साक्ष्य 510 ई. से मिलता है जब ईरान में एक शिलालेख में इसे एक यादगार के रूप में अंकित किया गया। बाद के काल में सतीप्रथा ने जोर पकड़ लिया। कुछ औरतों ने तो सामान्य स्त्री-उपयुक्त घरेलू क्रियालाप से मुँह मोड़कर मठवासिनी बनना पसंद किया अथवा गणिकाओं का प्रशिक्षण ले लिया अथवा नाटक-मंडली में शामिल हो गईं।

15.7.2 आर्थिक बदलाव

गुप्तकाल में कृषि-विषयक अर्थव्यवस्था में लाए गए बदलावों का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। कृषि-क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन था भूमि-अनुदान अर्थव्यवस्था का आरंभ। आरंभ में धार्मिक लाभग्राही भूमि-कर से मुक्त रखे गए और आगे चलकर उन्हें गांवों पर प्रशासनिक और न्यायिक अधिकार सौंप दिए गए। फिर भी, धार्मिक विशेषज्ञों, जैसे ब्राह्मणों, को दिए जाने वाले भूमि-अनुदान के आर्थिक लाभ अधिक महत्वपूर्ण थे। ब्राह्मणों का कृषि-विषयक ऋतुओं और पंचांगों के ज्योतिषीय ज्ञान और कृषि के तरीकों की जानकारी के फलस्वरूप व्यापक पैमाने पर कृषिकार्य होने लगे। इस प्रकार, आर.ए. शर्मा जैसे इतिहासकारों ने आरंभिक मध्य युग में कृषि-विस्तार के तथ्य को स्वीकार किया है। कृषिपरागहर जैसी महत्वपूर्ण रचना उस काल के खेतों और कृषि-कार्यों का जीवंत चित्रण प्रस्तुत करती है।

यद्यपि धार्मिक और धर्मोत्तर लाभार्थियों को भूमि-अनुदान देने से राज्य को कोई तात्कालिक राजस्व तो नहीं मिलता था, इन अनुदानों से ग्रामों में संपन्नता आती थी और वे एक व्यापक आर्थिक नेटवर्क से जुड़ जाते थे। यदि अनुदान में दी गई भूमि बंजर अथवा जंगली होती थी तो लाभार्थी उन पर कृषिकार्य आरंभ करता था। यह बात जंगली और कबीलाई क्षेत्रों पर विशेष रूप से लागू होती थी। ब्राह्मणों को कृषि-कार्यों की ज्योतिषीय और तकनीकी जानकारी होती थी।

इस काल का एक अति महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन था- मध्य एशियाई क्षेत्र उड़ीसा, असम, पश्चिमी और दक्खिनी भारत के हिस्सों में कबीलों का 'किसानीकरण'। जब ब्राह्मण लाभार्थी कबीलाई भारत के जंगलों और पहाड़ियों में पहुंचे, तो उन्होंने कबीलों के एक वर्ग को कृषि-कार्यों में संलग्न कर दिया। इस प्रक्रिया से समाज और राज्य को दो आर्थिक लाभ हुए। पहले की अपेक्षा अधिक कृषि योग्य भूमि पर खेती होने लगी जिसके फलस्वरूप ग्रामीण समाज के विस्तारीकरण और राजस्व की बढ़ती मांग को पूरा करने के अवसर सुलभ होते गए। कबीलाई समाज के श्रम का एक हिस्सा कृषि, जंगल, ग्रामीण विधि-व्यवस्था, गाँवों में लोक कल्याण के साथ साथ खनन-कार्य में लगाया गया।

राजकीय राजस्व अनेक प्रकार के भूमि और व्यापार के कर से प्राप्त होता था। गुप्तकाल के अंत में सिक्कों में जो मिलावट होने लगी उसे राजकोषीय संकट का परिणाम बताया जाता है। जैसा कि ह्वेनसांग ने लिखा है; हर्ष ने राज्य की आय को चार वर्गों में बांट दिया था- एक चौथाई सरकारी कार्यों के लिए, दूसरी चौथाई लोक सेवकों के वेतन के लिए, तीसरा चौथाई भाग बौद्धिक उपलब्धियों पर पुरस्कार के लिए और अंतिम चौथाई उपहारों के लिए।

गुप्तकाल की अर्थव्यवस्था के बारे में कहा गया है कि इसमें शहरी केंद्रों में हास हुआ और इसके लिए उस काल की सामंती अर्थव्यवस्था को जिम्मेदार माना गया है। शहरों का नुकसान ही नहीं हुआ बल्कि अनेक में तो वाणिज्य का लगभग अंत ही हो गया। कुषाण काल की खुदाई से उसकी समृद्ध स्थिति का पता चलता है। शहरों के भरण-पोषण के लिए कृषि-उत्पादों की अपर्याप्तता को बढ़ते निर्जलीकरण का परिणाम माना गया। वर्षा की कमी और वनों की कटाई ने भी कृषि-उत्पादन को प्रभावित किया होगा। इन सारे कारणों का संयुक्त परिणाम शहरी पतन रहा होगा। फिर भी, प्रश्न उठता है कि क्या यह शहरी पतन उपमहादेशीय अथवा कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित था? गौरतलब है कि कुछ शहरों में निश्चय ही हास हुआ, लेकिन यह एक उपमहादेशीय घटना नहीं थी और पतन के कारण भिन्न-भिन्न थे। पर्यावरणीय परिवर्तनों के साथ-साथ आर्थिक परिवर्तनों की भी इसमें भूमिका रही होगी। विनिमय के नए केन्द्रों के विकसित होने से व्यापारिक मार्गों को अलग मार्गों से निकालने की आवश्यकता पड़ी होगी। गंगा की घाटी में नए शहर विकसित हुए जबकि कान्यकुब्ज (कन्नौज) अपने भीतरी प्रदेश की समृद्ध व कृषि-अर्थव्यवस्था के कारण फूलता-फलता रहा। दक्कन में पौनार की वाकाटक काल में अच्छी प्रगति हुई। वलाभी अरब सागर के ज़रिए व्यापार, जिसमें समृद्ध अरब

व्यापारी शामिल थे, के कारण वाणिज्यिक केंद्र बन गया। मध्यएशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय सौदागरों का बोलबाला था। उपमहाद्वीप के कुछ हिस्सों में गुप्तकाल अपने पूर्ववर्ती काल के आर्थिक विकास की गति का अंतिम दौर था। अन्य हिस्सों में छठी सदी में पश्चिमी तट पर सौदागरों के नए समूहों का अभ्युदय हुआ।

वाणिज्यिक संपत्ति के स्रोत थे- खदानों, पेड़-पौधों और पशुओं के उत्पाद जिन्हें कुशल शिल्पकारिता से उपयोगी वस्तुओं का रूप प्रदान कर दिया जाता था। सोना कर्नाटक के खानों से निकाला जाता था, लेकिन सुदूर उत्तर की पर्वतीय धाराओं में प्रक्षालित किया जाता था। सोने में उच्च कोटि की शिल्पकारिता भव्य रूप में अभिकल्पित और सावधानीपूर्वक ढाले गए गुप्तकालीन सिक्कों में परिलक्षित होती है। ऐसे सिक्कों के जखीरे मिले हैं जिनमें कुछ टकसाली स्थिति में हैं। ऊंची गुणवत्ता के रेशम और तौल के मानक वाणिज्य को सुविधाजनक बनाते थे। तांबे और लोहे का खनन जारी रहा और उनका उपयोग घरेलू सामानों, बर्तनों, उपकरणों और औजारों में किया जाता था। इस अवधि की सबसे प्रभावशाली धात्विक वस्तुएँ हैं लौह स्तंभ जो अभी दिल्ली के मेहरौली में अवस्थित हैं। इनकी ऊंचाई 23 फिट से कुछ अधिक है और इसका धातु-कर्म इतना उम्दा है कि इसमें अभी तक जंग नहीं लगा है। इसका शिलालेख चन्द्र नामक राजा का उल्लेख करता है जिसे कुछ लोग चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते हैं। उतनी ही प्रभावशाली बुद्ध की आदमकद ताम्रप्रतिमा है। हाथी दाँत की कलाकृतियाँ, पश्चिम भारत में मोती निकालने का काम, अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्नों- सूर्यकांत, गोमेद, कार्नेलियन (एक प्रकार का श्वेत, लाल या भूरे रंग का रत्न), स्फटिक, लाजवर्द- के तराशने और चमकाने का कार्य उज्जैन और मोकार्दन में फलता-फूलता रहा। अनेक प्रकार के वस्त्रों का विशाल घरेलू बाजार था जो भारत के अंदर उत्तरी-दक्षिणी व्यापार का प्रमुख अंग था। एशियाई बाजारों में भी भारतीय वस्त्रों की भारी मांग थी। रेशम, मलमल, सादा सूती वस्त्र, ऊन और कपास भारी मात्रा में पैदा किए जाते थे। पश्चिम भारत रेशम बुनाई का एक प्रधान केंद्र था। लेकिन, गुप्तकाल के उत्तरार्द्ध में रेशम का उत्पादन घट गया होगा क्योंकि पश्चिम भारत के रेशम बुनकरों के एक बड़े संघ के अनेक सदस्य दूसरे पेशे अपनाने के लिए भीतरी प्रदेश में चले गए थे। शिल्पीसंघ मालों के उत्पादन और वाणिज्यिक उद्यम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे और उनके आंतरिक संगठन के संबंध में उनके अपने कायदे-कानून थे। ये संघ किसी-न-किसी रूप में जाति-व्यवस्था की भांति सामाजिक-आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। गुप्तकाल के पूर्व की अवधियों में समुद्र पार व्यापार हेतु लिए गए ऋणों पर अत्यधिक ब्याज की दरों को घटाकर बीस प्रतिशत कर दिया गया जिसमें गोपनीयता भी शामिल थी। ब्याज की दरों में कमी से मालों की अधिक उपलब्धता और मुनाफे की दर में संभावित कमी के भी संकेत मिलते हैं।

समुद्रगुप्त के पूरब और दक्षिण के अभियानों और हर्ष के लगातार दौरों के लिए कुशल संचार और परिवहन व्यवस्था अपेक्षित थी। सड़कों पर बैलगाड़ियां, ऊबड़-खाबड़ क्षेत्रों में भारवाही पशु और घने जंगली क्षेत्रों में हाथी काम में लाए जाते थे। गंगा, नर्मदा, गोदावरी, कृष्ण और कावेरी जैसी बड़ी नदियों के निम्नस्तरीय विस्तार मुख्य जलमार्ग थे। पूरबी तट के पत्तन, जैसे ताम्रलिपित और घंटा शाला, के जरिए उत्तरी भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया का व्यापार संचालित होता था, जबकि पश्चिमी घाट के पत्तन पूर्वी भूमध्य सागर और पश्चिमी एशिया के साथ व्यापार करते थे। इस सामुद्रिक व्यापार में संलग्न प्रायद्वीपीय भारत के पत्तन और उत्पादन केंद्र इस अवधि में हासमान होते तो नहीं प्रतीत होते हैं लेकिन ये गुप्तों के नियंत्रण से बाहर थे। मध्य और पश्चिम एशिया के साथ स्थलीय व्यापार भी ईसा की चौथी और सातवीं सदी के बीच ह्यसोन्मुख नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि ईरान और बैक्ट्रिया से उत्तर-पश्चिम भारत में अथवा अरब से समुद्र के जरिए पश्चिमी तट पर आने वाले अश्वों के आयात में खासी बढ़ोत्तरी हुई।

प्रगति जाँच अभ्यास-3

क. निम्नलिखित के लिए एक शब्द लिखें:

- (i) जाति सम्मिश्रण
- (ii) ब्राह्मण को दिया गया भूमि अनुदान
- (iii) शिल्पकारों का प्रतिनिधि
- (iv) प्रधान लिपिक या मुंशी
- (v) ग्राम प्रमुख

ख. गुप्तकाल में नारियों की स्थिति पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

15.8 धार्मिक जीवन

गुप्तकाल को ब्राह्मणवादी पुनर्जागरण का काल मानने की परंपरा रही है। ब्राह्मण-धर्म का एक वर्ग इस अवधि में फल-फूल रहा था। उपमहादेश के कुछ भागों में बौद्ध धर्म अभी भी प्रचलित था और शैववाद के साथ इसकी प्रतिद्वंद्विता सुविदित थी। लेकिन बौद्ध धर्म अन्य धर्म के पूजा-अनुष्ठानों से प्रभावित हो रहा था। बौद्ध धर्म अन्य धर्म के पूजा-अनुष्ठानों से प्रभावित हो रहा था। बौद्ध धर्म के अनुयायी भारत की सरहदों से पार मध्य एशिया, चीन और दक्षिण-पूर्व में फैले थे। इन क्षेत्रों के प्रचलित धार्मिक आचरण नव-स्थापित बौद्ध धर्म के आचरणों में समायोजित कर लिए गए। जैन धर्म को पश्चिमी भारत के व्यापारी समुदायों से समर्थन मिला और राजकीय संरक्षण कर्नाटक और दक्षिण से। छठी शताब्दी के आरंभिक भाग में दूसरी जैन-संगीति वल्लभी में आयोजित की गई और जैन के सिद्धांत बाद में परिभाषित किए गए जो आज भी विद्यमान हैं। संस्कृत भाषा का उपयोग बढ़ रहा था क्योंकि अनेक क्षेत्रों में यह श्रेष्ठ जनों की प्रतिष्ठामूलक भाषा बन गई थी। लेकिन इसके फलस्वरूप धार्मिक उपदेशकों के शिष्य-समुदाय में कमी आ गई। जैनों ने मूर्तियों की एक श्रृंखला विकसित की थी, जैसे- महावीर और अन्य तीर्थंकरों की सीधी खड़ी आकृतियाँ अथवा पालथी मार कर बैठी हुई आकृतियाँ। उपमहादेश के हिस्सों में कबीलाई समाजों के साथ आदान-प्रदान की लंबी प्रक्रिया के फलस्वरूप कबीलाई सरदारों में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। 'कृषिकीकरण' की प्रक्रिया ने निरपवाद रूप से ब्राह्मणों द्वारा संस्कृति-संक्रमण की ताकतें पैदा की और बड़ी संख्या में किराए पर लाए गए कबीले सरदार कृषि-कार्य में लग गए, उन्होंने कबीलाई श्रम को किराए पर लिया और ब्राह्मण-समाज से जातीय श्रेणी विभाजन और अनुष्ठानों को ग्रहण कर लिया।

गुप्तकाल तक शैव, वैष्णव, शाक्त और गणेश एवं सूर्य की पूजा पौराणिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठापित हो चुकी थी। गुप्तोत्तर काल में सूर्य की पूजा-पद्धति गुजरात तक सीमित प्रतीत होती है और वह भी धीरे-धीरे लुप्त हो गई। लेकिन इस काल का सबसे महत्त्वपूर्ण धार्मिक घटनाक्रम था देवी की पूजा। देवी में प्रजनन-क्षमता से जुड़ी अनेक देवी शक्तियों की अवधारणाओं को अपने में समाविष्ट कर लिया। नारी देवी शक्तियाँ अनेक धार्मिक कृत्यों की केंद्र बन गईं। वे सभी ऐंद्रजालिक गुणों से युक्त थीं और यही गुण आगे चलकर तांत्रिकवाद के आधार बन गए। देवी सारे कार्यों, ऊर्जा और सत्ता- शिव की शक्ति- समझी जाती थी (ऐसा माना जाता था कि पुरुष देव महिला देवी के मेल से ही सक्रिय होता है)। ऐसी धारणाएँ कितनी बलवती थीं यह योगिनियों को समर्पित मंदिरों से पता चलता है। ये योगिनियाँ ऐंद्रजालि शक्ति से युक्त थीं और इनका संबंध यदा-कदा देवियों से माना जाता था। योगिनियों के इन मंदिरों में अधिकांश मध्यएशिया में

अभी भी विद्यमान हैं। देवी की पूजा से जुड़े अनेक मिथक देवी-माहात्म्य में मिलते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कबीलाई समाज में लोकप्रिय देवी की पूजापद्धति के आत्मसात करने से भी तांत्रिक धर्म को समृद्धि मिली।

शक्ति-शाक्त पूजा पद्धति अनेक धार्मिक पंथों का मूल विश्वास तो बनी ही, धीरे-धीरे इसने अपनी स्थिति भी काफी सुदृढ़ कर ली। पुरुष देवताओं की सहधर्मिणियों की अलग से भी पूजा होने लगी, जैसे विष्णु की संगिनी लक्ष्मी अथा शिव की सहधर्मिणियाँ पार्वती, काली और दूर्गा की पूजा। तांत्रिक विश्वासों और अनुष्ठानों से बौद्ध धर्म भी प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सका। बौद्ध पर तांत्रिक प्रभाव इसके वज्रयान संप्रदाय के उद्भव में देखा जा सकता है। इसका केंद्र पूर्वीभारत में था। वज्रयान बौद्ध धर्म ने विद्यमान बौद्ध देवकुल में नारी प्रतिरूप के तौर पर तारा की पूजा-पद्धति को जन्म दिया। लेकिन ह्वेनसांग को बोध गया, सारनाथ और कुछ अन्य स्थानों में बौद्ध धर्म में ह्यस के लक्षण परिलक्षित हुए और उसने बौद्ध धर्म के प्रति कुछ राजाओं, जैसे बंगाल के शशांक, के विद्वेष की चर्चा की है। इस तरह, सातवीं सदी तक बौद्ध धर्म पूरे उपमहादेश के स्तर पर पतन की ओर बढ़ रहा था। इस काल में वैष्णववाद और शैववाद के तीन महत्त्वपूर्ण धार्मिक घटनाक्रम थे। प्रतिमा पूजा का केंद्र बन गई और इस प्रतिमा-पूजा ने वैदिक यज्ञ का स्थान ले लिया। वैदिक ब्राह्मणवाद के यज्ञीय अनुष्ठान में पुरोहित की भूमिका में कमी आती गई और उसके स्थान पर भक्ति पौराणिक धर्म का सबसे व्यापक रूप हो गई। वैदिक धर्म की अपेक्षा पौराणिक धर्म का आकर्षण भी अधिक था। धार्मिक अनुष्ठान में आम लोग भाग लेने लगे, सामूहिक रूप से तीर्थ यात्रा करने लगे और स्थानीय मिथकों को बढ़ावा मिलने लगा। इस काल में कुछ पुराणों की भी रचना हुई, यद्यपि उनके लेखन की सही तिथि निर्धारित करना कठिन है। कुछ संप्रदायवादी साहित्य है जो भक्त को मिथकों, पूजा के अनुष्ठानों और देवता-विशेष, जिसको वे पुराण समर्पित हैं, के आदेशों के अनुपालन की जानकारी देते हैं। आरंभिक पुराणों में कुछ पुराण-जैसे, विष्णु पुराण- के एक अनुच्छेद में अतीत के राजवंशों और वंशावलियों का वर्णन है।

उत्तर की संस्कृति का दक्षिण की संस्कृति के साथ आदान-प्रदान, व्यापारियों के परिपथ और सैन्यदल तथा ब्राह्मण अधिवासियों के नियमित मार्गों के गडमड के फलस्वरूप उत्तर के कुछ प्रतिमानों, विचारों और संस्थाओं को तो मिला लिया गया जबकि कुछ अन्य संशोधित अथवा अस्वीकृत कर दिए गए। तामिलकम में बस गए ब्राह्मण अपने को परमपावन वैदिक परंपरा का संरक्षक मानते थे। इस रूप में वे सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे और धीरे-धीरे उन्होंने प्रायद्वीप के राजाओं में अपने संरक्षक पा लिए। अनुष्ठानों का निष्पादन राजा के लिए ऊंची हैसियत का मार्ग प्रशस्त करता था। यद्यपि रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने आरंभ में भक्ति-आंदोलन का तिरस्कार किया लेकिन अंततः भक्ति-आंदोलन दक्षिण में अन्य धार्मिक प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हो गया और शाही संरक्षकों ने भी इसे स्वीकृत प्रदान कर दी। तमिल भक्ति आंदोलन देवता के चुनाव में वैष्णववाद और शैववाद से गहरे रूप से प्रभावित हुआ। ये पंथ भक्ति आंदोलन की आरंभिक अभिव्यक्तियाँ हैं। तमिल भक्ति आंदोलन को अलवारों और नयनारों के स्रोतों और कविताओं में वैष्णव और शैवकवियों के द्वारा भारी लोकप्रियता मिली। शिव और विष्णु को समर्पित भजन नालयिरा दिव्य प्रबंध में संग्रहित हैं। अप्पार शैवकवियों में सर्वाधिक लोकप्रिय था, जबकि नाम्मलवार और तिरुमंकाई अलवार तथा अतिसम्मानित कवियित्री अंदाल महत्त्वपूर्ण वैष्णव कवि थे। कुछ दार्शनिकों ने वैदिक दर्शन को पुनर्जीवित किया और मठों तथा घटिकों (वैदिक शिक्षा के केंद्र) की स्थापना की।

वैदिक दर्शन को स्वीकार्य एवं सुग्राह्य बनाने का सबसे कारगर उपाय था इसकी दुर्बोधता को दूर करना। इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य नववेदांत दर्शन के प्रतिपादक शंकराचार्य ने किया। उन्होंने बौद्धों, जैनों और लोकप्रिय भक्ति-संप्रदायों के द्वारा ब्राह्मणवाद को दी गई चुनौतियों को स्वीकार किया। उनका जन्म केरल में हुआ था और आठवीं-नौवीं सदियों में उन्होंने लिखा और शिक्षा दी। हालांकि, संभव है, वे बाद की अवधि के हों। हमारे अध्ययन-काल के

प्रायद्विपीय भारत में सामाजिक-धार्मिक जीवन केंद्र के रूप में विकसित हुए। पल्लव काल से लेकर बाद तक अधिक समृद्ध मंदिर प्रशिक्षित नर्तकों, गायकों और संगीतज्ञों का पोषण करते थे। इससे देवदासियों- देवताओं की सेवा करने वाली महिलाओं- को नियोजित करने की प्रथा विकसित हुई। ये देवदासियाँ लगभग सारे भारत के बड़े मंदिरों में नियोजित की जाने लगीं। उनमें से कुछ ने भक्ति-काव्य की रचना की। पल्लव काल में पत्थर काटकर मंदिर बनाए गए जिनमें महाबलिपुरम का एकारम (एक ही चट्टान से बना) मंदिर प्रसिद्ध है। पत्थर की संरचना वाले मंदिर ऐहोल में (वातापी की चुनौतियों के फलस्वरूप) छठी सदी में, महाबलिपुरम में प्रसिद्ध तटीय मंदिर सातवीं सदी में और कांचीपुरम में बनाए गए।

15.9 कला और संरक्षण

गुप्तकाल के मंदिर स्थापत्य के बहुत कम उदाहरण शेष बचे हैं। उस काल के मंदिरों की स्थापत्य-कला कभी निर्माण की अवस्था में थी। अजंता और एलोरा में शैल काटकर बनाई गई गुफाएँ स्थापत्य-कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इनसे आगे चलकर एलोरा, एलिफैंटा और औरंगाबाद में शैल काटकर वैष्णव और शैव मंदिरों को बनाने की प्रेरणा मिली। उड़ीसा में ललित गिरी, रत्नागिरी और उदय गिरि में शासकों और सौदागरों के संरक्षण में बौद्ध स्तूप बनए जाते रहे। अजंता की गुफाएँ मूर्ति और भित्ति चित्रों से सजाई गईं। बुद्ध का जीवन चरित और जातक कथाओं का चित्रांकन के द्वारा साहित्यिक उल्लेख की बहुलता मिलती है।

आरंभ के मंदिरों में एक ही कक्ष होता था जिसमें प्रतिमा रखी जाती थी। सांची, ऐहोल, तिगोवा, भूमारा, नाचुआ कोठारा, लोधखान और देवगढ़ में ऐसे ही मंदिर हैं। ऐसे मंदिरों में आमतौर पर पौराणिक देवताओं-विष्णु, शिव, पार्वती, दुर्गा और वराह- की पूजा होती थी। देवगढ़ में दशावतार मंदिर, जैसा कि नाम से ज्ञात होता है, विष्णु के अवतारों को समर्पित आरंभिक मंदिरों में एक है। शैव और वैष्णव मंदिर गर्भ-गृह (वह कक्ष जिसमें देवता की मूर्ति रखी जाती थी) के चारों ओर बनाए गए। दक्कन में बौद्धों ने शैल काटकर बनाए गए चैत्यों की खुदाई जारी रखी और वैष्णवों, शैवों तथा जैनियों ने बाद की शताब्दियों में इनका अनुकरण किया और प्रायः बौद्ध गुफाओं के सन्निकट मंदिरों की खुदाई करते रहे। जो मंदिर शैल काट कर बनाए जाने के बदले सीधे खड़े थे वे आमतौर पर पत्थर के बने थे और वे तेजी से स्मारकीय शैली के माध्यम बन गए (यद्यपि भीतरगाँव में पहले का बना हुआ ईंट का मंदिर विद्यमान है।)

एक तीव्र सौंदर्यपरक संवेदनशीलता प्रतिबिंबित करने वाली श्रेण्य मूर्तिकला सारनाथ, मथुरा, कुशीनगर और बोध गया की बौद्ध-मूर्तियों में परिलक्षित होती है। इन मूर्तिकलाओं ने अधिक महत्त्वपूर्ण वैष्णव और शैव देवताओं को चित्ताकर्षक सक्कों पर चित्रण के लिए उत्प्रेरित किया। वैष्णव चित्रण या तो देवता के थे अथवा उसके किसी अवतार के जिसमें विविध प्रकार के चित्रों की गुंजाइश थी। शिव को प्रायः लिंग के रूप में ही चित्रित किया जाता था। पक्की मिट्टी की मूर्तियाँ लोकप्रिय और जनसामान्य के लिए सुलभ बनी रहीं। पत्थर की मूर्तियों को केवल संपन्न वर्ग का ही संरक्षण प्राप्त था। सुलतानगंज में पाई गई बुद्ध की मूर्ति इस काल की कांस्य प्रतिमा का दुर्लभ उदाहरण है।

15.10 साहित्य

हम इस अवधि में आरंभिक पुराणों- विष्णु पुराण, वायु पुराण, भागवत पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण और हरिवंश पुराण- की चर्चा धर्म वाले खंड में कर चुके हैं। इसका भी उल्लेख किया जा चुका है कि पुराण सिर्फ ब्राह्मण धर्म ही नहीं, बल्कि राजकीय वंशावली और ऐतिहासिक परंपराओं के अध्ययन के भी महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। साथ ही, इस बात का भी जिक्र किया जा चुका है कि इस अवधि में धार्मिक गतिविधियों के अध्ययन के लिए दक्षिण भारत के वैष्णव अलवार और नयनार शैव संतों ने भक्ति-भजनों की रचना की थी। इस संबंध में यह भी उल्लेख्य है कि रामायण और महाभारत

सामाजिक-राजनीतिक धार्मिक इतिहास जानने के स्रोत प्रथम दो संहिताबद्ध महाकाव्य हैं। इस खंड में हम पञ्चवर्ती काल के धातु-कर्म, काव्य और साहित्यिक सिद्धांत के अध्ययन के स्रोत के रूप में रचनात्मक साहित्य का उल्लेख करेंगे। नृत्य, नाटक और काव्य पर भरत-लिखित आधारभूत ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' संभवतः इसी अवधि का है। साहित्यिक समीक्षा और रस सिद्धांत रचनात्मक साहित्य के विशिष्ट रूप बनकर उभरे। विशिष्ट शासक-वर्ग, दरबार, अभिजात वर्ग और संपन्न नगरवासियों ने संस्कृत में पद्य और गद्य को संरक्षण प्रदान किया। चंद्रगुप्त द्वितीय के दरबारी कवि कालिदास एक असाधारण कवि और नाटककार थे। उनकी कृतियों ने संस्कृत भाषा को गरिमा प्रदान की और वे बाद के कवियों के लिए प्रेरणा-स्रोत बनीं। नाटक में उनका 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' और काव्यशास्त्र में उनका लंबा प्रगीति काव्य 'मेघदूतम्' संस्कृत की श्रेष्ठ रचनाएँ मानी जाती हैं। इनके पश्चात् भारवि का किरातार्जुनीयम्, माघ का 'शिशुपालबध' और 'भट्टिकाव्य' तथा उसके कुछ और बाद की अवधि में भवभूति रचित 'मालती माघव' व श्रेष्ठ संस्कृत साहित्य की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। शूद्रक लिखित 'मृच्छकटिकम्' में शहरी जीवन की झाँकी मिलती है। विशाखदत्त की नाट्य-कृति 'मुद्राराक्षस' में नंदवंश के विध्वंस और देवीचन्द्रगुप्त में चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा सत्ताग्रहण की चेष्टा का वर्णन मिलता है।

पंचतंत्र की कहानियाँ सामाजिक संदेश और सुबंधु की 'वासवदत्ता' अपनी साहित्यिक गुणवत्ता के लिए प्रसिद्ध हैं। बाणभट्ट रचित 'हर्ष चरित' जीवन चरित और संस्कृत सूक्तियों का श्रेष्ठ उदाहरण है। यही बात उसके वृत्तांतात्मक 'कादम्बरी' के साथ भी लागू होती है।

राजदरबार की भाषा संस्कृत थी। इस भाषा को गुप्त काल में प्रधानता मिली जो ईसा की दूसरी सहस्राब्दी तक चलती रही। उसके बाद क्षेत्रीय भाषाओं का उपयोग होने लगा। दिल्ली सल्तनत और मुगलों के समय में राजदरबार की भाषा फ़ारसी हो गई, लेकिन स्थानीय भाषाओं और संस्कृतियों का चलन जारी रहा। इनकी झलक अनेक शिलालेखों और धार्मिक संप्रदायों की भाषाओं में प्राकृत के उपयोग में मिलती है। नाट्य-शास्त्र अनेक भाषाओं और बोलियाँ को सूचीबद्ध करता है जिनमें निम्नजातियों और चांडालों द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ भी शामिल हैं। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत साहित्य को भी जैन व्यापारियों का संरक्षण प्राप्त था। विमल सूरी कृत 'पौमाचारियम्', जो रामकथा का जैन रूपांतरण है, प्राकृत और लोकप्रिय साहित्य का सुंदर उदाहरण है। उल्लेखनीय है कि संस्कृत नाटकों में उच्च वर्ग के पात्र संस्कृत भाषा में बोलते थे, जबकि निम्नस्तरीय लोग और सभी नारी-पात्र प्राकृत में।

प्रगति जाँच अभ्यास 4

क. रिक्त स्थान भरें:

- (i) तांत्रिक प्रभाव बौद्ध धर्म के संप्रदाय में देखा जा सकता है।
- (ii) और में शैल काटकर बनाई गई गुफाएँ स्थापत्य-कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।
- (iii) राजदरबार की भाषा थी।
- (iv) राजवंश के काल में पत्थर काटकर मंदिर बनाए गए जिनमें महाबलिपुरम् का एकारम् मंदिर प्रसिद्ध है।
- (v) पौराणिक कथाओं के अनुसार कालिदास गुप्त सम्राट के दरबार में कवि थे।

ख. निम्नलिखित कृतियों के रचयिताओं के नाम बताएँ:

- (i) मृच्छकटिकम् (ii) मुद्राराक्षस (iii) मेघदूत (iv) किरातार्जुनीयम् (v) हर्षचरित

15.11 अन्य राज्यों का उदय

15.11.1 वाकटक

अब हम उस अवधि के अन्य राज्यों की चर्चा करेंगे। विदर्भ के वाकटक मध्यभारत और उत्तरी दक्कन में महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति थे। विदर्भ में हम वाकटक राज्य के अभ्युदय के तीन अस्थायी दौर पाते हैं- पूर्वी वाकटक शाखा, नंदिवर्धन वाकटक शाखा तथा पश्चिमी विदर्भ में वत्सगुल्म शासन के वाकटका प्रथम दौर में प्राक-प्रभावती गुप्त के वाकटक शासक (विंध्यशक्ति से लेकर रुद्रसेन द्वितीय तक) आते हैं जिन्होंने मुख्यतः चौथी सदी में शासन किया। दूसरे दौर में प्रभावती गुप्त का राजकाल आता है जिसमें विदर्भ पर आधिपत्य के लिए अनबन पैदा हो जाती है। वाकटक राजदरबार में गुप्तों का प्रभाव बढ़ने लगता है और तृतीय दौर तब शुरू होता है जब वाकटक सत्ता के निर्माण और वैधीकरण में प्रवर्षण द्वितीय का शासन-काल प्रारंभ होता है जिसमें व्यापक क्षेत्रीय और राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया चलती है। प्रवर्षण द्वितीय के चौबीस भूमि-अनुदान संबंधी घोषणापत्रों से विदर्भ के क्रमिक क्षेत्रीय एकीकरण और विदर्भ राज्य में स्थानीय सरदारों के राजनीतिक समावेशन का स्पष्ट रूप से पता चलता है। विदर्भ काल मध्य भारत में स्थापत्य कला और चित्रकला की विशिष्ट क्षेत्रीय शैली के विकास के लिए भी प्रसिद्ध है।

15.11.2 मैत्रक

मैत्रक शासन के प्रथम सत्तर वर्षों के भूमि-अनुदान संबंधी घोषणापत्रों की जांच से पता चलता है कि सौराष्ट्र में पहली बार ईसा की छठी सदी में एक क्षेत्रीय राज्य का निर्माण हुआ। इस अवधि के शिलालेखों से सौराष्ट्र के क्षेत्रीय एवं राजनीतिक संघटन और एकीकरण के प्रयासों में आने वाली कठिनाइयों और उनसे निबटने के लिए मैत्रकों द्वारा अपनाए गए प्रक्रमों का संकेत मिलता है। प्रथम सत्तर साल के भूमि अनुदानों के क्षेत्रीय वितरण की जांच से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि भावनगर, अमरेली और खेड़ा जिलों का क्रमिक संघटन हुआ। पुरालेखीय साक्ष्य महत्वपूर्ण गैर-मैत्रक सरदारों का मैत्रक राज्य में संघटन का भी संकेत देते हैं। ब्राह्मणों, बौद्ध विहारों और यदा-कदा मंदिरों को दिए गए भूमि-अनुदानों ने मैत्रकों की सत्ता को वैधता प्रदान कर दी और देहाती क्षेत्रों के संसाधनों के संघटन को सुगम बना दिया।

भूमि-अनुदान के घोषणापत्र सचित्र हैं और उन मैत्रकों के प्रशासनिक प्राधिकरण और राजत्व के विशेषाधिकारों को निरूपित करते हैं जो गुजरात के प्रथम क्षेत्रीय राजवंश के रूप में पनप रहे थे। देहाती इलाकों में बार-बार पढ़कर सुनाए जा रहे घोषणापत्रों ने मैत्रकों को न सिर्फ शाही उपाधियों और प्रभावशाली वंशावली वाले क्षेत्रीय 'संप्रभुओं' के रूप में प्रस्तुत किया होगा अपितु उनके क्षेत्रीय दावों को भी दर्शाया गया। घोषणापत्रों के निहितार्थों ने मैत्रकों को 'सरदारी' से 'राजपद' के संक्रमण में शाही अनुमोदन में सहायता की। जब मैत्रकों ने सौराष्ट्र में पहली बार भूमि-अनुदान किया तो उन्होंने उस अधिक्षेत्र के देहाती इलाकों में अपनी संप्रभुता के विस्तार की प्रक्रिया का ही श्रीगणेश किया। चूंकि ये अनुदान प्रथम सत्तर वर्षों में केवल भावनगर, अमरेली और खेड़ा जिलों में ही दिए गए, उनकी स्थानीयता क्रमिक क्षेत्रीय संघटन की अभिकल्पना ज़ाहिर करती है। मैत्रक राजाओं की उपाधियों से स्थानीय सरदारों के राजनीतिक समावेशन की प्रक्रिया का पता चलता है जो क्षेत्रीय संघटन के समानांतर चलती थी। आवश्यक नहीं कि इन घोषणापत्रों में दी गई पदाधिकारियों और करों की सूचियों को ग्रामीण समाज के शोषण का दस्तावेज़ ही माना जाए; उन्हें उभरते मैत्रक राजवंश के राजकीय मानकों और प्रशासनिक उपकरणों से जनसामान्य को परिचित करने के माध्यम के रूप में भी देखा जा सकता है। अंततः मैत्रकों के अनुदान ब्राह्मण भूमिपतियों के उद्भव के लिए उत्तरदायी नहीं थे; मैत्रकों के पहले से ही सौराष्ट्र में उच्च स्तरीय ग्रामीण समाज विद्यमान था जिसमें ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण भूमिपति शामिल थे।

15.11.3 दक्कन और तमिलकम

उत्तर भारत में गुप्तों और उनके निकटवर्ती उत्तराधिकारियों के बाद हमारी ऐतिहासिक यात्रा आगे बढ़ती हुई दक्षिण में दक्कन और तमिलकम तक पहुंचती है। यहाँ हमारा ध्यान दक्कन और उसके आगे दक्षिण का राजनीतिक इतिहास दो भौगोलिक क्षेत्रों- पश्चिमी दक्कन और तमिलकम- एक ओर तटीय क्षेत्रों के समनांतर पर्वतों से घिरे विस्तृत पठारीय इलाके और दूसरी ओर चेन्नई के दक्षिण के ऊर्वर समतल मैदान के बीच दीर्घकालीन संघर्ष पर केन्द्रित हो जाता है।

पश्चिमी दक्कन में वाकटकों ने चालुक्य सत्ता के सामने घुटने टेक दिए जहाँ वातापी/बादामी में उनका अड्डा क्रायम हो गया। पूर्वी दक्कन से दक्षिण अनेक राज्य बन गए जिनमें शालकायनों और बाद में पूर्वी चालुक्यों द्वारा शासित राज्य, कृष्ण-गुंटुर क्षेत्र में नागार्जुनकोंडा और धरनीकोटा जैसे महत्त्वपूर्ण केंद्रों वाले इक्ष्वाकुओं और उनके निकटवर्ती विष्णुकुंडिनो के राज्य शामिल थे। कर्नाटक पर नियंत्रण कदंबों और नोलंबोग गंगाओं के बीच बंटा था। इसीलिए दावा किया जाता है कि उनमें से कुछ ब्राह्मण-क्षत्रिय जाति के थे अर्थात् ऐसे ब्राह्मण थे जो क्षत्रियों के कार्य करते थे अथवा जो ब्राह्मण और क्षत्रिय कुल परंपरा का दावा करते थे।

15.12 उपसंहार

छठी सदी के मध्य के बाद 300 वर्षों तक तीन बड़े राज्य आपस में संघर्षरत थे। ये थे- बादामी के चालुक्य, कांचीपुरम के पल्लव और मदुरै के पांड्य। ये सभी ऊर्वर भूभागों को अपने अधीन करना चाहते थे। चालुक्य आरंभ में कदंबों के अधीनस्थ शासक थे, जो बाद में स्वतंत्र हो गए। उनका गढ़ उत्तरी कर्नाटक में वातापी/बादामी और निकटवर्ती ऐहोल था जहाँ से वे ऊपरी गोदावरी में स्थित वाकटकों के पहले के राज्य को अपने राज्य में मिला लेने के लिए उत्तर की ओर बढ़ गए। उन्होंने कुछ पश्चिमी तटीय क्षेत्रों को भी अपने राज्य में संभवतः इसलिए शामिल कर लिया क्योंकि ये क्षेत्र अरब सागर से आने वाले व्यापारियों की मेजबानी करते थे। उत्तर भारत के बढ़ते प्रभाव को चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय ने हर्ष को नर्मदा में पराजित कर नियंत्रित कर लिया। यह एक ऐसी घटना है जिसका चालुक्यों ने बड़े गर्व से बार-बार चर्चा की है। सात वाहन राज्य के पूर्वी भाग, कृष्ण और गोदावरी के डेल्टाओं (नदीमुख-भूमियों) को ईसा की तीसरी सदी में इक्ष्वाकु राजवंश ने जीत लिया था। बाद में पल्लवों ने इस क्षेत्र पर अधि कार कर इक्ष्वाकु शासन का अंत कर दिया। पल्लवों ने कदंब शासकों को पराजित कर चालुक्य राज्य के दक्षिण में स्थित उनके राज्य को भी अपने राज्य में शामिल कर लिया।

प्रगति जाँच अभ्यास 5

क. निम्नलिखित में से कौन सा कथन असत्य है ?

- (i) विदर्भ के वाकटक मध्यभारत और उत्तरी दक्कन में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति थे।
- (ii) पश्चिमी दक्कन में वाकटकों ने चालुक्य सत्ता के सामने घुटने टेक दिए।
- (iii) वल्लभी के मैत्रक सौराष्ट्र क्षेत्र की मजबूत शक्ति थी।
- (iv) हर्ष ने चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय को हरा दिया।

ख. संक्षिप्त टिप्पणी

- (i) गुप्तकालीन कला-संरक्षण
- (ii) वाकटक

ग. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न:

- (i) गुप्त समाज और अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ बताएँ।
- (ii) गुप्तकालीन धर्म एवं संस्कृति का वर्णन करें।
- (iii) गुप्तों के प्रशासकीय तंत्र की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

15.13 सारांश

- चौथी सदी की शुरुआत से छठी शताब्दी के मध्य तक, गुप्तों, जो संभवतः वैश्य मूल के थे, ने उत्तरी और पश्चिमी भारत पर शासन किया।
- समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय ने व्यापक सैन्य अभियान चलाया और गुप्त-साम्राज्य की शक्ति संगठित की।
- गुप्तों के पतन के कई कारण थे- हुण आक्रमण, सत्तारूढ़ परिवार के भीतर कलह, स्थानीय प्रमुखों द्वारा शक्ति-संगठन, प्रशासनिक कमजोरी इत्यादि।
- उत्तर-गुप्त काल में कई साम्राज्य अस्तित्व में आए जिनमें सबसे प्रमुख था- थानेश्वर का पुष्यभुतिसा।
- हर्ष साम्राज्य के पतन के पश्चात क्षेत्रीय शक्तियों ने खुद को संगठित करना शुरू कर दिया।
- अगले दो सौ सालों में उत्तर भारत में पाल, गुर्जर-प्रतिहार और राष्ट्रकूट राजवंशों का राजनीतिक वर्चस्व कायम रहा।
- छठी सदी के मध्य से दक्कन के राजनीतिक परिदृश्य में बादामी के चालुक्यों, कांची के पल्लवों और मदुरै के पांड्यो का दबदबा बना था।

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. संक्षिप्त टिप्पणी

(i) देखें खंड 15.4.2

(ii) देखें खंड 15.3

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. (i) सही (ii) गलत (iii) सही (iv) सही (v) सही

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. (i) वर्ण-शंकर (ii) ब्रह्मदेय (iii) प्रथम-कुलिका (iv) प्रथम- कायस्थ (v) ग्राम-अध्यक्ष

ख. देखें खंड 15.7.1

प्रगति जाँच अभ्यास 4

क. (i) वज्रयान (ii) अजंता और एलोरा (iii) संस्कृत (iv) पल्लव (v) चन्द्रगुप्त द्वितीय

ख. (i) शूद्रक (ii) विसाखदत्त (iii) कालिदास (iv) भारवि (v) बाणभट्ट

प्रगति जाँच अभ्यास 5

क. कथन (iv) असत्य है

ख. संक्षिप्त टिप्पणी:

(i) देखें खंड 15.9

(ii) देखें खंड 15.11.1

ग. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न:

(i) देखें खंड 15.7.1 और 15.7.2

(ii) देखें खंड 15.8

(iii) देखें खंड 15.5

पाठ 16

आरंभिक मध्यकाल की ओर: राजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था, समाज और संस्कृति में परिवर्तन
विशेष रूप से पल्लवों, चालुक्यों और वर्द्धनों के संदर्भ में

पाठ्य-रूपरेखा

- 16.0 उद्देश्य
- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 पल्लव, चालुक्य और वर्द्धन
 - 16.2.1 पल्लव
 - 16.2.2 चालुक्य
 - 16.2.3 वर्द्धन
- 16.3 प्राचीनकाल से मध्यकाल में संक्रमण
 - 16.3.1 राजव्यवस्था
 - 16.3.2 अर्थव्यवस्था
 - 16.3.3 समाज
- 16.3 संस्कृति
 - 16.4.1 भाषायी विकास
 - 16.4.2 धर्म
 - 16.4.3 कला और स्थापत्य
- 16.5 विज्ञान के क्षेत्र में विकास
 - 16.5.1 गणित और खगोल-शास्त्र
 - 16.5.2 चिकित्सा
- 16.6 उपसंहार
- 16.7 सारांश

16.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन आपको निम्नलिखित विषयों में सक्षम बनाता है:

- इस काल के दौरान समाज और राजनीति में परिवर्तन की समझ
- इस काल में सांस्कृतिक विकास की व्याख्या
- इस काल के दौरान विज्ञान, गणित और चिकित्सा के क्षेत्रों में विकास की पहचान

16.1 प्रस्तावना

जैसा कि हम जानते हैं, इतिहास निरंतरता और परिवर्तन दोनों का वृत्तांत है। दीर्घकालीन अतीत के बारे में विचार करते हुए इतिहासकार कतिपय ऐसी प्रवृत्तियों की खोज करते हैं जो लंबी अवधि तक विद्यमान रहती हैं और अपनी पूर्ववर्ती और पश्चवर्ती प्रवृत्तियों से भिन्न होती हैं। यही भिन्नताएँ परिवर्तन कहलाती हैं, जबकि निरंतरताओं को ऐतिहासिक काल की संज्ञा दी जाती है। भारतीय इतिहास में ऐसी तीन लंबी अवधियाँ हैं जिन्हें क्रमशः प्राचीन काल, मध्य काल और आधुनिक काल कहते हैं। भारती इतिहास में प्राचीन से मध्य काल का यह संक्रमण, जिसका प्रथम खंड आरंभिक मध्य काल कहा जाता है, एक सुदीर्घ घटना है। इस संक्रमण में मानवीय व्यापार और विचार में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्रस्तुत पाठ में इस संक्रमण काल के प्रमुख राजनीतिक और आर्थिक विकास- विशेषकर पल्लवों, चालुक्यों और वर्द्धनों से संबंधित घटनाक्रमों- की चर्चा करेंगे। अगले पाठ में समाज और संस्कृति में होने वाले उन परिवर्तनों पर विचार किया जाएगा जो इन राजनीतिक और आर्थिक विकास से संबद्ध थे।

16.2 पल्लव, चालुक्य और वर्द्धन

16.2.1 पल्लव

पल्लव दक्षिण भारत का राजवंश था। इस वंश ने तीसरी सदी से छह सदियों के लंबे समय तक शासन किया। आरंभ में वे आज के उत्तरी तमिलनाडु के छोटे शासक थे और उनकी राजधानी कांचीपुरम थी। छठी सदी से वे एक बड़ी शक्ति बनकर उभरे और अनेक छोटे शासकों के क्षेत्र में इसका आधिपत्य हो गया। उन्होंने अपने विस्तृत क्षेत्र वाले शासन को मदुरै (दक्षिणी तमिलनाडु) के पांड्यों और चालुक्यों से लगातार युद्ध कर बचाए रखा। लगभग मध्य-आठवीं सदी से उनकी शक्ति क्षीण होने लगी।

16.2.1 चालुक्य

चालुक्यों का उद्भव ईसा की छठी सदी में पश्चिमी दक्कन में महाराष्ट्र के समीपवर्ती क्षेत्रों और उत्तरी कर्नाटक के शासकों के रूप में हुआ। शीघ्र ही वे एक विस्तृत साम्राज्य के अधिपति हो गए और उन्होंने वातापी (आधुनिक बादामी) में अपनी राजधानी बनाई। आठवीं सदी के मध्य के लगभग अपने पूर्व अधीनस्थ राष्ट्रकूटों के द्वारा बादामी के चालुक्य पदच्युत कर दिए गए। पूर्वी चालुक्य ही जाने वाली उनकी एक छोटी-सी शाखा ने 631 ई. से पांच सदियों तक आंध्र के डेल्टा क्षेत्र में शासन किया। भारतीय इतिहास में चालुक्यों की अन्य शाखाएं भी थीं, लेकिन मध्य आठवीं सदी के बाद के चालुक्य वंशों का जिक्र हम यहाँ नहीं करेंगे।

16.2.3 वर्द्धन

उत्तर भारत में छठी सदी के आगमन के साथ गुप्त शासन का पतन होने लगा और मध्य छठी सदी तक इसका अंत होते-होते अनेक छोटे-छोटे राज्य अस्तित्व में आ गए। इन्हीं में एक था कन्नौज में मौखारियों का शासन और दूसरा था स्नानविश्वर (आधुनिक हरियाणा का थानेश्वर) में पुष्पभूतियों का। पुष्पभूति नृप अपने नाम के अंत में 'वर्द्धन' जोड़ते थे; जैसे- प्रभाकरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन, हर्षवर्द्धन। यही कारण है कि वे वर्द्धन के नाम से भी जाने जाते हैं। वर्द्धन परिवार की राजकुमारी राज्य श्री का विवाह मौखरी नृप के साथ हुआ था। उसकी मृत्यु के बाद राज्य श्री का भाई, थानेश्वर का हर्षवर्द्धन (संक्षेप में हर्ष) ही दोनों राज्यों का वास्तविक शासक बन बैठा। संभवतः इसका कारण था उसकी विधवा बहन का गद्दी पर दावा बनना। चीनी स्रोतों के अनुसार, उसकी बहन नियमित रूप से अपने भाई हर्ष की बगल में सम्मानित आसन ग्रहण करती थी और राजकीय कार्यों, के विचार-विमर्श में भाग लेती थी। कई वर्षों तक चलने वाले

अनेक युद्धों के द्वारा हर्ष ने उत्तर भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, लेकिन वह स्थायी नहीं हो सका और 647 ई. में उसकी मृत्यु के तत्काल बाद छिन्न-भिन्न हो गया।

आप देखेंगे कि उपर्युक्त तीन साम्राज्य भारत के तीन बड़े भागों-उत्तर भारत में वर्द्धन, दक्कन में चालुक्य और दक्षिण भारत में पल्लव का प्रतिनिधित्व करते हैं, लेकिन वे भारतीय इतिहास में समान समय-विस्तार वाले नहीं हैं। वर्द्धनों का शासन सबसे कम समय तक रहा, चालुक्यों का शासन वर्द्धनों के पहले भी था और उनके बाद भी बना रहा जबकि पल्लव सबसे अधिक समय तक शासन करते रहे। चूंकि हमारी मुख्य अभिरुचि उन परिवर्तनों में है जिन्हें इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास में आरंभिक मध्यकाल के संक्रमण के दौरान चिह्नित किया है, अतः हम सिर्फ दो शताब्दियों, लगभग 550 ई. से लगभग 750 ई. के बारे में ही चर्चा करेंगे। इस समय-सीमा से बाहर की अवधि की चर्चा अन्य पाठों में की गई है और उसमें गुप्तों और पालों-प्रतिहारों-राष्ट्रकूटों-चोलों का क्रमवार विवरण प्रस्तुत किया गया है। संक्रमण की चर्चा में वर्द्धनों, चालुक्यों और पल्लवों के अतिरिक्त अन्य राज्यों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

16.3 प्राचीनकाल से मध्यकाल में संक्रमण

इतिहासकारों को इस बात का अहसास बहुत पहले हो चुका था कि भारतीय इतिहास में मध्यकाल का आरंभ दिल्ली सल्तनत के मुगल शासकों से बहुत पहले हो चुका था। विसेंट स्मिथ ने मध्यकाल का आरंभ हर्षवर्द्धन की मृत्यु से ही माना था और इसे आरंभिक मध्यकालीन भारत का प्रथम चरण कहा था। इस नामावली को व्यापक स्वीकृति मिली और इसे यदा-कदा 'मध्यकालीन हिंदूभारत' अथवा 'राजपूत काल' का भी नाम दिया गया।

पिछले लगभग पचास वर्षों के दौरान इतिहासकारों ने प्राचीन काल से मध्यकाल में संक्रमण के विषय पर अधिकाधिक ध्यान दिया है। आमतौर पर वे अब इसका प्रारंभ गुप्तकाल से मानते हैं। इसके बावजूद इतिहासकारों में कई मसलों पर मतैक्य (एक मत) नहीं है। मुख्य रूप से विवाद भारतीय सामंतवाद से संबंधित है, खास कर इस मत से कि आरंभिक मध्यकाल में संक्रमण का तात्पर्य भारतीय इतिहास में सामंतवाद में संक्रमण से है। विवाद अब भी जारी है, किंतु इतिहासकारों ने अनेक बिंदुओं को असंदिग्ध प्रमाणित किया है और वास्तविकता यही है कि संक्रमण के अनेक बुनियादी तथ्यों पर सहमति के फलस्वरूप ही शेष पर विवाद जारी है। इस खंड में हम इन विवादों के पचड़े में न पड़कर उनका जिक्र तभी करेंगे जब ऐसा करना अपरिहार्य हो जाए।

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. निम्नलिखित में से कौन से कथन सही हैं ?

- (i) पल्लवों ने तीसरी सदी से छह सदियों के लंबे समय तक शासन किया।
- (ii) चालुक्यों का उद्भव ईसा की छठी सदी में पश्चिमी दक्कन में महाराष्ट्र के समीपवर्ती क्षेत्रों और उत्तरी कर्नाटक के शासकों के रूप में हुआ।
- (iii) बादामी के चालुक्य आठवीं सदी में वर्द्धनों के द्वारा पदच्युत कर दिए गए।
- (iv) पुष्पभूति नृप अपने नाम के अंत में 'वर्द्धन' जोड़ते थे, जैसे, प्रभाकरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन, हर्षवर्द्धन।
- (v) विसेंट स्मिथ ने मध्यकाल का आरंभ हर्षवर्द्धन की मृत्यु से ही माना था और इसे आरंभिक मध्यकालीन भारत का प्रथम चरण कहा था।

16.3.1 राजव्यवस्था

आरंभिक मध्यकालीन राजव्यवस्था आरंभिक ऐतिहासिक राजव्यवस्था से काफी भिन्न थी और उसके विशिष्ट स्वरूप के अनेक पक्ष चिह्नित किए गए हैं। प्राचीन काल से मध्यकाल के संक्रमण की चर्चा के सिलसिले में मौर्य साम्राज्य एवं प्रशासन के अध्ययन से प्राचीन भारतीय राज्यों और आरंभिक मध्यकालीन राज्यों, जो गुप्त साम्राज्य से आरंभ होते हैं, के बीच तुलना करने में काफी सहायता मिलती है। प्राचीन भारतीय राजव्यवस्थाओं, जिनके उदाहरण के तौर पर मौर्य साम्राज्य को ले सकते हैं, के विपरीत आरंभिक मध्यकालीन राज्य व्यवस्थाएँ विकेंद्रीकृत थीं। हाल के वर्षों में इतिहासकारों ने उनके बीच की विषमता को कम कर के आंका है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों के बीच विषमता थी ही नहीं। पूर्व के विवेचनों में इस विषमता को उजागर करते हुए कहा जाता था कि मौर्य राज्य अत्यधिक विकेंद्रीकरण राज्य था, जबकि आरंभिक मध्यकालीन राजव्यवस्था विकेंद्रीकृत, सामंतवादी ढांचे वाली थी। चूंकि आज के इतिहासकार विकेंद्रीकरण के बदले विकेंद्रीकरण के मात्रात्मक स्वरूप पर जोर देते हुए मौर्य राज्य के स्वरूप के संबंध में संशोधित निर्णय देते हैं। (इस राज्य को अब पूर्वापेक्ष अत्यंत सीमित अर्थ में विकेंद्रीकरण माना जाता है), इसलिए अब आरंभिक मध्यकालीन राज्यों के विशिष्ट स्वरूप को भिन्न रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अब उन्हें मौर्य साम्राज्य की तुलना में अधिक विकेंद्रीकृत कहा जाता है।

आरंभिक मध्यकालीन राजनीतिक परिवर्तन के सबसे महत्वपूर्ण संकेतक हैं राजकीय उपाधियाँ। प्राचीन भारत के प्रचलन, जब नरपति (जिनमें शक्तिशाली मौर्य नरपति भी शामिल थे) राजा की सरल उपाधि धारण करते थे, के विपरीत आरंभिक मध्यकाल में अधिक शानदार और भड़कीली उपाधियाँ, ग्रहण करने की प्रवृत्ति तेज़ी से बढ़ी, यहाँ तक कि छोटे-मोटे शासक भी महाराजा और 'महाराजाधिराज' जैसी उपाधियाँ ग्रहण करने लगे। यह प्रवृत्ति गुप्तकाल के शासकों के समय में ही पनपने लगी। यद्यपि वे अधिकांश शिलालेखों में आमतौर पर 'महाराजाधिराज' कहलाए, चंद्रगुप्त द्वितीय के समय से उनमें से कुछ यदा-कदा 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' और 'भट्टारक महाराजा राजाधिराज' भी कहलाते थे। इसी चलन का अनुसरण करते हुए हर्षवर्द्धन, उसके पिता और पितामह ने 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि ग्रहण की।

लगभग उसी समय मैत्रक शासक धरसेन चतुर्थ (641-650 ई.), जो सौराष्ट्र का एक शक्तिशाली क्षेत्रीय राजा तो था लेकिन हर्ष जैसा सबल अधिपति नहीं था, ने अपने साथ दो और भड़कीली उपाधियाँ- 'परमेश्वर' और 'चक्रवर्ती'- जोड़ लीं। बादामी के चालुक्य भला कब पीछे रहने वाले थे? वे अपने को 'महाराजा', 'परमेश्वर', 'राजाधिराज परमेश्वर' तथा 'महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक' जैसी लंबी अलंकृत उपाधियों से विभूषित करने लगे। ये उपाधियाँ उनकी राजनीतिक हैसियत का बोध करती थीं। इनके अतिरिक्त इन राजाओं ने प्रायः कुछ अन्य ऐसी गरिमामय उपाधियाँ (परममहेश्वर, परमभागवत, इत्यादि) भी ग्रहण कर ली जिनसे उनकी धार्मिक क्षेत्रीयता अन्य गुणों का पता चलता था। कहा जाता है कि सातवीं सदी के पल्लव शासक नरसिंह वर्मन द्वितीय ने ढाई सौ उपाधियाँ ग्रहण कर ली थीं। इनमें उसकी कुछ उपाधियाँ थी, 'राजसिंह' (राजाओं में शेर), 'शंकरभक्त' और 'आगमप्रिय' (आगम नामक शैव धर्मग्रंथ की प्रेमी)। पल्लव शासकों की राजनीतिक हैसियत और धार्मिक प्रतिबद्धता उनकी उपाधि 'धर्ममहाराज' अथवा 'धर्ममहाराजाधिराज' से ज़ाहिर होती है। धर्म उपसर्ग से उनके ब्राह्मणवाद के प्रतिज्ञात झुकाव और ब्राह्मणेतर धर्मों के प्रति विद्वेष की भावना झलकती है।

इन भड़कीली राजनीतिक उपाधियों से तत्कालीन राजनीतिक संघटन की प्रवृत्ति और संस्कृत भाषा की अलंकारिता का स्पष्ट संकेत मिलता है? भारत के प्राचीन राजाओं के विपरीत आरंभिक मध्यकाल के चालुक्य और जैसे संप्रभु नरपति अपने पदाधिकारियों की मदद से संपूर्ण राज्य-क्षेत्र पर सीधे शासन नहीं करते थे, बल्कि इसके केंद्रीय भाग पर ही इनका

सीधा नियंत्रण होता था। शेष का शासन-संचालन उनके अधीनस्थ छोटे-छोटे राजाओं के द्वारा होता था। तात्पर्य यह कि एक वृहत राजनीतिक ढांचे में राजाओं का एक श्रेणीबद्ध संगठन होता था और यह उपाधियों की क्रम-परंपरा के अनुरूप होता था। ये अधीनस्थ राजा अनेक प्रकार के होते थे। इनमें बड़े क्षेत्रों के राजाओं से लेकर छोटे-छोटे सरदार और कबीलाई नेता भी शामिल थे। यह श्रेणीबद्ध ढांचा उस समय के वर्द्धन, चालुक्य और पल्लव जैसे बड़े राज्यों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि इसमें अपेक्षाकृत छोटे राज्य भी शामिल थे। उदाहरणस्वरूप, सातवीं सदी में कश्मीर के क्षेत्रीय राज्य पर तक्षशिला, साल्टरेंज और लोवर हिल्स समेत अनेक राज्य आश्रित थे।

ये ही प्रभुता संपन्न अधीनस्थ राजा, 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' प्रायः सामूहिक तौर पर सामंत कहलाते थे। सामंत एक पुराना पद था, लेकिन आरंभ में इसका तात्पर्य पड़ोसी अथवा पड़ोस के राजा से था। अब इसका नया अर्थ हो गया 'अधीनस्थ राजा'। उदाहरणस्वरूप हर्ष के मधुवन ताम्रपत्र अभिलेख में इसी अर्थ में ईश्वरगुप्त नामक व्यक्ति को सामंत महाराजा कहा गया है। समकालीन साहित्य में भी इन सामंतों के राजनीतिक महत्व की अनेक चर्चाएँ मिलती हैं। यही रेखांकित करने लायक तथ्य है कि सामंत संप्रभु राजा के सामान्य सहायक अथवा बाहरी व्यक्ति न होकर उसके राज्य-क्षेत्र के भीतर महत्वपूर्ण पदाधिकारी होते थे। वे राजा को बहुमूल्य सैनिक सेवा प्रदान करते थे और उसके प्रतिरक्षा तंत्र के अभिन्न अंग माने जाते थे। वे अपने अधिपतियों के अभियानों में उनका साथ देते थे, उनके विजय-गौरव और लाभ में शरीक होते थे और उनकी पराजय की कीमत चुकाते थे। इस प्रकार, चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय को पल्लवों के विरुद्ध अभियान के पूर्व उनके अधीनस्थ बाणों के प्रतिरोध को कुचलना पड़ा। पराजित होने के बाद बाणों ने अपनी वफादारी चालुक्यों को सौंप दी जैसा कि एक चालुक्य अभिलेख में एक जागीर के उनकी प्रशासनिक इकाई के रूप में (बानराज विषय) के चित्रण से प्रतीत होता है। ये सामंत अपने अधिपति राजा के दरबार में नियमित रूप से उपस्थित होते थे और महत्वपूर्ण प्रशासकीय कार्यों का निष्पादन भी करते थे। उदाहरणार्थ, ईश्वरगुप्त हर्ष के अभिलेखों का संरक्षक था।

सामंतों की पहचान राजनीतिक अस्थिरता और अशांति, जो आरंभिक मध्य युग की विशेषता थी, के संवाहक के रूप में की गई है। वे हमेशा गड़बड़ी फैलाने के संभावित स्रोत थे और केंद्रीय समस्याओं और कमजोरियों का लाभ उठाने में आगे रहते थे तथा संभव होने पर अपने को स्वतंत्र घोषित करने यहाँ तक कि अपने अधिपति राजाओं से सत्ता छीनने में भी पीछे नहीं रहते थे। उदाहरणस्वरूप, चालुक्य अपने अधीनस्थ राष्ट्रकूटों के द्वारा सत्ता से बेदखल कर दिए गए और हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य कायम नहीं रह सका उसका स्थान अनेक स्वतंत्र छोटे-छोटे राज्यों ने ले लिया।

प्रश्न है, संप्रभु राजा और उसके अधीनस्थ शासक किस प्रकार अपने सीधे नियंत्रण वाले क्षेत्रों में शासन चलाते थे? इस संबंध में भी मतैक्य नहीं है। सामान्य तौर पर, राजकीय मामलों में शाही नियंत्रण में ढील आ गई। जैसा कि गुप्त शासकों से जाहिर होता है, आरंभिक मध्यकालीन शासक मौर्यों जैसे प्राचीन शासकों की तरह प्रशासन में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेते थे। एक ओर जहाँ अशोक ने इस बात पर बल दिया था कि उसे साम्राज्य की सारी घटनाओं से वाकिफ़ रखा जाए वहीं दूसरी ओर गुप्त शासक इस कार्य को कुमार-आमात्यों और आयुक्तों जैसे अपने पदाधिकारियों को सौंप कर संतुष्ट थे।

अनेक राजकीय पदनाम पहली बार आरंभिक मध्यकालीन अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। इनमें 'संधि विग्राहिका' और 'दंडनायक' जैसे कुछ पदनाम पहले प्रयुक्त होते हैं और शीघ्र ही संपूर्ण भारत की अधिकांश राजव्यवस्थाओं में अति-महत्वपूर्ण पदनाम बन जाते हैं। इन पदों को और गरिमामय बनाने के लिए उनमें महंत जैसा उपसर्ग जोड़कर 'महासंधि विग्राहिका' 'महादंडनायक' इत्यादि बनाने की प्रवृत्ति जोरों पर थी। अधिकांश मामलों में हमारे अभिलेख

इन बहुसंख्यक पदनामों का विस्तृत विवरण नहीं प्रस्तुत करते। फलस्वरूप, उनका वास्तविक स्वरूप प्रायः संगत अटकलबाजी से अधिक कुछ नहीं हो सकता। फिर भी, नए नामों के आधिक्य से प्रशासन के पुनर्संघटन का संकेत तो मिलता ही है जो राज्य की नई चिंताओं और दायित्वों के बढ़ते महत्व के कारण आवश्यक हो गया था। उदाहरणस्वरूप, भूमि-अनुदान के जरिए अग्रहार बनाने के चलन ने 'अग्रहारिक' के पद को आवश्यक बना दिया। मध्यकालीन असम में यह कार्य दो पदाधिकारियों-'लेखायित्री' और 'शासयित्री'-में विभक्त किया गया प्रतीत होता है लेखायित्री अनुदान को लिपिबद्ध करता था और शासयित्री उन्हें लागू करता था।

इन सब के बावजूद यह कहना कठिन है कि बड़ी संख्या के ये पदनाम जो आरंभिक मध्ययुगीन अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं, आवश्यक रूप से राजकीय पदाधिकारियों की कुल संख्या में बढ़ोतरी के ही सूचक हैं। पहली बात तो यह है कि ये पदनाम विभिन्न राज्यों के अभिलेखों से संबद्ध हैं जिससे यह पता नहीं चलता कि सभी ज्ञात पदाधिकारी एक ही राज्य की मशीनरी के अंग हैं। दूसरी बात यह है कि अनेक मामलों में हम एक ही व्यक्ति को अनेक उच्च पदों पर आसीन पाते हैं।

वास्तव में, यह मानने के दो आधार हैं कि आरंभिक मध्यकाल में राज्य जैसे-जैसे अनेक क्रियाकलापों से अलग होता गया, नौकरशाही की संख्या में कमी आती गई। पहला आधार है भूमि-अनुदान का चलन और दूसरा है प्रशासनिक मामलों में स्थानीय स्वायत्तता।

ह्वेनसांग के समय तक पदाधिकारियों को वेतन के बदले भूमि-अनुदान (अथवा स्थानीय करों में हिस्सेदारी) के द्वारा भुगतान होता था। इससे सरकार वेतन भुगतान के लिए संसाधनों के संचयन को नगदी में बदलने के बड़े भार से मुक्त रहती थी। इस अवधि में राज्य ने बड़े पैमाने पर धार्मिक अधिकारियों तथा संस्थाओं को भी स्थायी तौर पर वित्तीय, न्यायिक एवं प्रशासनिक अधिकार देना आरंभ किया। जिन गाँवों पर ऐसे अधिकार प्रदान किए जाते थे उनकी चिंता से सरकार मुक्त हो जाती थी। मौर्य शासन के विपरीत आरंभिक मध्ययुगीन राजव्यवस्थाओं में अब सरकार ने कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था के विकास में सक्रिय भागीदारी बंद कर दी और उसके बदले उन व्यक्तियों को भूमि-अनुदान देना शुरू किया जो ग्रामीण क्षेत्रों में उत्प्रेरक का काम करते थे।

अनुदानग्राही राजव्यवस्था के विकेंद्रीकरण के अतिरिक्त स्रोत बन गए। वास्तव में उनके कारण सामंतों की श्रेणी में वृद्धि हो गई। सामंत महाराजा ईश्वरगुप्त, जो हर्ष के दरबार में मुहरों का संरक्षक था, के संबंध में ऊपर में जो कुछ कहा गया है, उससे भिन्न रूप में उसका अर्थ लगाया जा सकता है और वास्तव में लगाया भी गया है। यह आवश्यक रूप से ऐसे सामंत महाराजा का मामला नहीं था जो मुहरों का संरक्षक था, बल्कि यह एक ऐसे मुहर-संरक्षक का मामला भी हो सकता है जो भूमि-अनुदान के जरिए सामंत की श्रेणी तक पहुँचा था। सामंतों की भूमि-अनुदान की शक्ति के सन्दर्भ में इतिहासकारों का विश्वास इतना दृढ़ रहा है कि वे आरंभिक मध्यकालीन भारत में जब भी किसी ब्राह्मण राजा को देखते हैं तो उनका निष्कर्ष यही होता है कि वह ब्राह्मण राजा किसी अनुदानग्राही ब्राह्मण का ही वंशज होगा और उसके पूर्वजों ने भूमि-अनुदान के जरिए राजनीतिक सत्ता पहली बार प्राप्त की होगी।

राज्य के क्रियाकलापों में एक और कटौती ग्राम और नगर दोनों स्तरों पर प्रशासन में स्थानीय स्वायत्तता के फलस्वरूप हुई। इसे आरंभिक मध्यकालीन भारत की एक अति महत्वपूर्ण घटना माना जाती है, यद्यपि इसका विकास सर्वत्र एक-जैसा नहीं हुआ। प्राचीन भारत में स्थानीय प्रशासन के पर्यवेक्षण के लिए समितियों अथवा व्यक्तियों को नियोजित किया जाता था। बाद में ये कार्य स्थानीय प्रतिनिधियों को सौंप दिए गए। जिन ग्रामीणों को अपने मामलों के निष्पादन स्वयं कर लेने की अनुमति प्राप्त होती थी, जैसा कि संगम काल में होता था, वे सीमित और तदर्थ रूप में ही ऐसा करते

थे। अनेक प्रकार के कार्यभारों से लदे स्थानीय स्वशासन की विकसित और सुगठित प्रणाली तो धीरे-धीरे बाद में ही विकसित हो पाई।

सुदूर दक्षिण में स्थानीय सभाएँ और अथवा परिषदें संगमोत्तर काल में अवश्य विद्यमान रही होंगी, लेकिन तमिल में उनके क्रियाकलापों हमें लंबे अरसे तक अज्ञात रहे। फिर भी, आठवीं सदी के उत्तरवर्ती और नौवीं सदी के पूर्ववर्ती भाग से, जब शिलालेख उनकी तीन किस्मों-उर (गौर-ब्राह्मण सभा), सभा (ब्राह्मणों की सभा) और नागरम (सामान्यतः व्यापारिक निगम-की चर्चा करने लगे, तो उनकी सभी अथवा अधिकांशतः ज्ञात विशेषताएँ परिलक्षित होने लगीं। निष्कर्षतः अगर उनका विकास आकस्मिक न होकर क्रमिक था (जैसा कि संभवतः था ही), तो यह आरंभिक मध्यकाल में अवश्य घटित हुआ होगा।

जहाँ तक शेष भारत का प्रश्न है, आंध्र प्रदेश में चौथी सदी, का प्राप्त एक अभिलेख गाँव के पदाधिकारियों और मुखियों, जैसे 'ग्राम भोजकों' तथा 'ग्राम कूटों' का उल्लेख करता है, लेकिन आमतौर पर स्थानीय प्रतिष्ठित व्यक्ति राज्य के पदाधिकारियों के साथ मिलकर ग्राम-प्रशासन में नियमित रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। किसी क्षेत्र में शासन पत्र निर्गत करने के समय राजा सामान्यतः इन प्रतिष्ठित व्यक्तियों को इसकी सूचना देता था और भूमि-संबंधी कारोबार के लिए उनकी सहमति महत्वपूर्ण मानी जाती थी। पश्चिमी दक्कन में गामुंड और महाजन कहलाते थे अन्यत्र 'महत्तर' उनके लिए इस अवधि का सर्वाधिक प्रचलित पद था।

प्रारंभिक मध्यकाल में स्थानीय स्तर पर राजनीतिक जीवन का विशिष्ट पहलू था- राजा द्वारा शहरी निगम-संघों को घटते-बढ़ते परिमाण में स्वायत्तता प्रदान किया जाना। इसके आरंभिक उदाहरण छठी सदी के अंत से लेकर आठवीं सदी के प्रथम चतुर्थांश तक आधुनिक गुजरात में महाराष्ट्र और कर्नाटक तक के विस्तृत पैमाने पर निर्गत अनेक आदेश पत्रों में मिलते हैं।

इसके बावजूद यह उल्लेखनीय है कि सब कुछ नहीं बदल गया था और प्राचीन काल से मध्यकाल के संक्रमण पर विचार करते समय हमें यह ध्यान में रखने की सावधानी बरतनी चाहिए कि दोनों के प्रशासन में अनेक समानताएँ थीं। अशोक की तरह हर्ष के बारे में कहा जाता है कि उसने अपने राज्य में यात्रियों के लिए अनेक विश्रामालय बनवाए। जिस प्रकार अशोक अपने राज्य का नियमित दौरा करता था और जैसा कि मनु ने ऐसे दौरों को राजा के महत्वपूर्ण कर्तव्यों में शुमार किया था, आरंभिक मध्यकालीन राजे जैसे- हर्षवर्द्धन प्रायः अपने क्षेत्र का दौरा करते पाए जाते हैं। जैसा कि ह्वेनसांग हर्ष के बारे में लिखता है: "राजा अपने पूरे राज्य का दौरा करता था, किसी एक स्थान पर अधिक समय तक नहीं रहता था बल्कि ठहराव के प्रत्येक स्थान पर निवास के लिए उसने अस्थायी भवन, खड़े कर लिए थे लेकिन वर्षा ऋतु के तीन महीनों में वह बाहर नहीं जाता था"। लेकिन जो इतिहासकार पूर्व काल से ऐसी समानता को स्वीकार नहीं करते उन्होंने ह्वेनसांग द्वारा दिए गए साक्ष्य की व्याख्या भिन्न ढंग से की है। उनका मानना है कि यदि राजा यह सब स्वयं करता था तो उसका यह कर्म राजोचित न होकर राजकीय निरीक्षक का कार्य था और उसके पास एक समुचित प्रशासन तंत्र का अभाव था। हर्ष अपने विस्तृत साम्राज्य के कुशल शासन के लिए एक संगठित नौकरशाही की सहायता के बदले व्यक्तिगत पर्यवेक्षण पर अधिक भरोसा करता था। लेकिन इतिहासकार गुप्त राजाओं की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने यह कार्य स्वयं न कर अपने अधिकारियों को सौंप दिया था। जो एक विरोधाभास है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि राजाओं में सर्वत्र एक जैसा बदलाव नहीं आया। दरअसल, राजकीय उपाधियों से लेकर स्थानीय प्रशासन तक राजव्यवस्था में क्षेत्रीय भिन्नताएँ बिलकुल स्पष्ट थीं। उदाहरणस्वरूप,

आरंभिक मध्ययुगीन राज्यों की एक सामान्य विशेषता थी राजा का अपने उत्तराधिकारी चुनने और उसे युवराज अथवा युवा महाराज घोषित करने का अधिकार। फिर भी, इन प्रत्यक्ष उत्तराधिकारियों का अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग महत्व था। इसके अतिरिक्त, शाही उत्तराधिकार सामान्यतः पुरुषों को दिया जाता था, लेकिन उड़ीसा के कारा राज्य में महिला शासकों का होना सामान्य बात थी। यह भी सही है कि राजकीय पदाधिकारियों के 'महादंड नायक' और 'सेनापति' जैसी अनेक उपाधियाँ सर्वत्र सामान्य थीं, उनमें अधिकांश (कम-से-कम संरूपण की दृष्टि से) विभिन्न क्षेत्रों के लिए अलग-अलग थीं। उदाहरणार्थ, ध्रुव कहा जाने वाला राजस्व अधिकारी सौराष्ट्र के बाहर नहीं मिलता, और 'लेखायित्री' तथा 'शासयित्री' असम क्षेत्र तक ही सीमित थे।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. सही गलत बताएँ:

- (i) आरंभिक मध्यकालीन राज्यों की राजव्यवस्था मौर्यों से अधिक विकेंद्रीकृत थी।
- (ii) ह्वेनसांग के समय तक अधिकारियों को वेतन के बदले भूमि-अनुदान (या स्थानीय करों में हिस्सेदारी) के द्वारा भुगतान किया जाता था।
- (iii) आरंभिक मध्यकालीन शासक मौर्य जैसे प्राचीन शासकों की तरह प्रशासन में अधिक सक्रिय रूप से भाग लेते थे।
- (iv) आरंभिक मध्यकाल में अधिक शानदार और भड़कीली उपाधियाँ ग्रहण करने की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी।
- (v) जहाँ अशोक ने इस बात पर बल दिया था कि उसे साम्राज्य की सारी घटनाओं से वाकिफ़ रखा जाए वहीं दूसरी ओर हर्षवर्द्धन इस कार्य को कुमार-अमात्यों और आयुक्तों जैसे अपने पदाधिकारियों को सौंप कर संतुष्ट था।

ख. आरंभिक मध्यकालीन राजव्यवस्था में सामंतों की भूमिका पर प्रकाश डालें।

16.3.2 अर्थव्यवस्था

चर्चित संक्रमण के आर्थिक पक्षों का पुनर्निर्माण मुख्य रूप से भूमि-अनुदान संबंधी शिलालेखों, सिक्कों और उपनिवेश संबंधी पुरातात्विक साक्ष्यों तथा किसी हद तक साहित्यिक स्रोतों, जैसे ह्वेनसांग जैसे चीनी पर्यटक के विवरणों, के आधार पर किया गया है। इनका अध्ययन निम्नलिखित प्रकरणों में किया जा सकता है: कृषि का निरंतर और अभूतपूर्व विकास, देहातों में भूपतियों के एक नए वर्ग का अभ्युदय और तदनुसार कृषक वर्ग की स्थिति में आए बदलाव और शिल्प उत्पादन, व्यापार तथा नगरीकरण में विकास। इनमें से कुछ परिवर्तनों की चर्चा उनसे संबंधित मुद्दों की चर्चा के बिना कठिन है जो हमें प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में सामंतवादी या किसी दूसरे प्रकार की व्यवस्था को ऐसा कहने के लिए सक्षम बनाती है।

ह्वेनसांग के भ्रमण के समय ईसा की सातवीं सदी के पूर्वार्ध तक संपूर्ण उपमहादेश में कृषि-क्षेत्रों का उद्भव हो चुका था। फिर भी, सभी क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था एक जैसी विकसित नहीं थीं। उदाहरणार्थ, निचली सिंधु के समानांतर विस्तृत क्षेत्र में लोग पशुचारिता से जुड़े थे अन्य कई क्षेत्र जंगलों से भरे थे और अन्य कई क्षेत्रों से अतीत की संपन्नता से अदृश्य हो चुकी थी और भूमि उजाड़ पड़ी थी। इन सारे वृत्तांतों और अन्य स्रोतों से प्राप्त साक्ष्यों से जाहिर होता है कि कृषि के क्षेत्र में विकास की पर्याप्त संभावनाएँ मौजूद थीं।

आमतौर पर यह तर्क दिया जाता है कि आरंभिक मध्यकालीन राज्यों ने इस संभावना को व्यावहारिक रूप देने का जो

मुख्य, संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण तरीका अपनाया वह था ब्राह्मणों और मंदिरों को भूमि-अनुदान देना। आरंभिक मध्यकाल में भूमि-अनुदानों की बढ़ती संख्या को कृषि-विस्तार की प्रक्रिया को गति प्रदान करने की विधि के रूप में लिया जाता है। लेकिन, प्राप्त साक्ष्यों के हाल में फिर से हुए मूल्यांकन में इसे सरलीकृत सामान्यीकरण माना गया है। इसके अनुसार इन भूमि-अनुदानों में बहुत थोड़े-से कृषि-विस्तार से संबद्ध थे। वास्तव में, भूमि-अनुदान कृषि-विस्तार का परिणाम था, आरंभ बिंदु नहीं। अधिकांश अनुदान पहले से आबाद क्षेत्रों के राजस्व के अनुदान के रूप में थे। फिर भी, कृषकों की बढ़ती संख्या के फलस्वरूप अधिकाधिक जमीन पर कृषि-कार्य जारी रहा और राज्य की ओर से उन्हें इसमें पूरा प्रोत्साहन मिला उदाहरणार्थ, आठवीं सदी में राजा ललिता-दिव्य ने कश्मीर में कृषि को सुविधाजनक बनाने के लिए पनचक्रियों का वितरण करवाया।

कृषि का विस्तार हर दृष्टि से एक व्यापक घटना थी। इससे नए क्षेत्रों में राज्यों के अभ्युदय और नए समुदायों के संघटन में मदद मिली। सभी क्षेत्रों के सभी कालों के ब्यौरे समान रूप से उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन शोधों के द्वारा हमारी जानकारी अवश्य बढ़ी है। उदाहरणस्वरूप, पल्लव राज्य में सिंचाई प्रणाली के निर्माण और रख-रखाव से हम भलीभांति परिचित हैं। पल्लव राजा पालार घाटी में कांचीपुरम के चारों ओर अनेक तालाबों के निर्माण के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। उस भू-भाग पर इस कार्य में उन्होंने जिस सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण प्रेक्षण का परिचय दिया है उसके लिए विशेषज्ञ आज भी उनकी प्रशंसा करते हैं। पांड्य राज्य में दक्षिणी तमिलनाडु में सिंचाई के साक्ष्य-ग्रेनाइट के जलमार्गों पर छोटे-मोटे पुरालेख-कुछ समय के लिए उपेक्षित रहे। उनके अनुसंधान से अनेक ऐसी प्रभावशाली सिंचाई परियोजनाओं का पता चला है जो सातवीं-आठवीं शताब्दियों के दौरान पांड्य राज्य में सफलतापूर्वक कार्यान्वित किए गए।

कृषि-अर्थव्यवस्था की एक मुख्य विशेषता थी धार्मिक व्यक्तियों और संस्थाओं को भूमि-अनुदान देकर भूपतियों के वर्ग का निर्माण। इन अनुदानों के प्रथम उदाहरण आरंभिक मध्यकाल में मिलते हैं, लेकिन उनकी संख्या कम है। गुप्तकाल में वे बड़े पैमाने पर दिए जाने लगे। अनुदानग्राहियों को किसी गाँव का राजस्व (कभी-कभी इसका एक अंश और कभी-कभी एक गाँव से अधिक) सदा के लिए दे दिया जाता था और उस गाँव के लोगों को उनके प्रति आज्ञापरायण होने तथा उनके देय को नियमित रूप से चुकाने के लिए कहा जाता था। वे उनसे अनेक प्रकार के अपराधों के लिए अर्थ दंड वसूलने के लिए भी अधिकृत थे। दूसरे शब्दों में, अनुदानग्राही प्रदत्त क्षेत्र में राज्य का प्रतिनिधित्व करते थे और राजकीय पदाधिकारियों को आमतौर पर उनके साथ छेड़छाड़ करने से रोका जाता था।

कृषक-वर्ग को इन अनुदानों के निहितार्थ विवादस्पद हैं। एकमत के अनुसार, कृषकों को इन भूपतियों की सत्ता के अधीन करने के कारण भूमि-अनुदान से उनकी स्थिति में चतुर्विध विकास हुआ। इससे किसान अनेक प्रतिबंध में बंध गए और उनकी स्थिति दासों जैसी हो गई। दूसरे मत के अनुसार, उपर्युक्त मत अतिरिजित है, क्योंकि कृषक अब भी अनुदानग्राहियों को सिर्फ वही चुकाते थे जो वे अब तक राजकीय पदाधिकारियों को अदा करते आ रहे थे, इसलिए वे हमेशा की तरह स्वतंत्र रहे।

यह एक विरोधाभास ही है कि कुछ इतिहासकारों के अनुसार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में इस तरक्की के अनुरूप ग़ैर-ग्रामीण अर्थव्यवस्था-ग़ैर-ग्रामीण शिल्प उत्पादन, व्यापार और नगरीकरण में तरक्की नहीं हो पाई। गाँव ऐसी बंद अथवा स्व-पर्याप्त अर्थव्यवस्था पर आधारित हो गए जिनकी अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति जिसों के पारस्परिक, ग़ैर-बाज़ारी लेन-देन के समझौते से होने लगी। इस तरह के लेन-देन में कुंभकार किसानों को बर्तन देता था और बदले में उससे ज़मीन का एक टुकड़ा अथवा फसल में एक हिस्सा पाता था। जैसे-जैसे गांवों की संख्या बढ़ती गई, इस प्रकार के समझौते के फलस्वरूप व्यापार और वाणिज्य में क्रमिक विकास होता गया और शहरी अर्थव्यवस्था लड़खड़ा गई। इसने एक ऐसी प्रवृत्ति को मजबूत किया जो भारत में विदेशी व्यापार में विकास से शुरू हुई। यह विकास पश्चिमी रोमन

साम्राज्य के पतन के कारण आरंभ हुआ और छठी सदी के अंत तक इसमें ठहराव आ गया, जब पूर्वी रोमन साम्राज्य के लोगों ने भारतीय व्यापारियों के माध्यम से चीन से रेशम का आयात करना बंद कर दिया। चीन और पश्चिमोत्तर एशिया के साथ व्यापार इस आर्थिक मंदी को रोकने में ना काफ़ी था, जैसा कि आरंभिक मध्यकालीन भारत में ईसा की दसवीं सदी के लगभग अंत तक शहरी और मौद्रिक परिदृश्य में परिलक्षित होता है। व्यापार घटकर न्यूनतम बिंदु पर पहुंच गया, सिक्कों की प्रसार-संख्या काफ़ी कम हो गई, बीते दिनों के संपन्न नगरों का विकास जारी रहा और स्थिति ऐसी हो गई कि पुजारियों और शिल्पकारों समेत शहरी पेशेवर जीविका की तलाश में नगर छोड़कर देहातों की तरफ़ चले गए।

शहरी पतन की इस तस्वीर को समीक्षकों ने विभिन्न कोणों से देखा है। समीक्षकों के एक वर्ग ने तो इसे सिरे से खारिज कर दिया है। इनके अनुसार विदेशी व्यापार गुप्त और गुप्तोत्तर काल में, वास्तव में, असाधारण रूप से फलते-फूलते दौर में था। एक अन्य समीक्षा के अनुसार, शहरी और मौद्रिक विकास का दौर तो था, लेकिन यह विकास एक तो बहुत सीमित अवधि के लिए और छोटे पैमाने पर था और दूसरी बात यह कि इसका कारण लंबी दूरी वाले व्यापार में मंदी नहीं था। लेकिन यह बतलाने की चेष्टा बिलकुल नहीं की गई है कि आखिर इस विकास का कारण क्या था। इस संबंध में एक तीसरा मत नगरवाद के विकास के समय और स्थान के विस्तार के विस्तार को और भी समिति कर देता है। ऐसा विश्वास किया जाता है, हालांकि यह गलत है, कि शहरी विकास का मामला सिर्फ गंगा की घाटी के संदर्भ में ही प्रस्तुत किया गया है (वास्तव में, एक अध्याय ऐसी भी है जो पूरे उपमहादेश के स्तर पर शहरी विकास की वकालत करती है)। इनके अतिरिक्त, कुछ विद्वान बंद अथवा स्व-पर्याप्त अर्थव्यवस्था की अवधारण पर ही प्रश्न खड़ा करते हैं कुछ अन्य ऐसा नहीं मानते कि आरंभिक मध्यकालीन भारत में सिक्कों के चलन में संख्यात्मक कमी आ गई थी, और कुछ समीक्षक सिक्कों की कमी तो मानते हैं, लेकिन इसे व्यापार में कमी का सूचक नहीं मानते।

इतना ही नहीं, विकास संबंधी अवधारणा में अनेक अंतर्विरोध भी दर्शाए गए हैं। हम इन समीक्षकों के दृष्टिकोण में, विरोधों और विभिन्नताओं में (विकास अवधारणा के समर्थकों द्वारा दिए गए प्रत्युत्तरों की चर्चा किए बगैर) सिर्फ इतना जोड़ना आवश्यक समझते हैं कि इस काल के ग़ैर-कृषिक इतिहास के विषय में आम सहमति बनाने और किसी निर्विवाद निष्कर्ष पर पहुंचने में विफलता एक दुखद स्थिति है। इसके बावजूद, इतना कहना निरापद प्रतीत होता है- यद्यपि इसे भी अंतिम निष्कर्ष नहीं माना जा सकता-कि ग़ैर-कृषि क्षेत्र में आरंभिक मध्यकालीन संक्रमण और चाहे जो हो, नैतिक तो कदापि नहीं था और उलझन भरे साक्ष्य-समूह एक ऐसी गत्यात्मकता को रेखांकित करता है जिसमें और अधिक शोध की आवश्यकता है।

इस अध्याय में हम उन सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों का सर्वेक्षण करेंगे जिन्होंने आरंभिक मध्यकालीन भारत के संक्रमण को चिह्नित किया। इन परिवर्तनों को जानने के हमारे स्रोत लगभग वाही हैं जो राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों को जानने के स्रोत हैं; लेकिन अनेक स्थितियों में वे भिन्न भी हैं। यदि वे एक-से भी हैं तो उनका विश्लेषण अलग-अलग ढंग से करना आवश्यक है। परिवर्तन के इन दो समूहों के बीच की कड़ियों को समय-समय पर पहचान लेना कठिन नहीं है, उदाहरणार्थ, आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों के बीच होने वाले परिवर्तनों को। हालांकि ऐतिहासिक आंकड़ों की कमी या समस्याएँ इस संबंध को कायम करने में कठिनाई पैदा करती हैं। यह संबंध वैसे भी प्रायः अस्पष्ट अथवा बारीक होता है।

प्रगति जाँच अभ्यास-3

क. प्रारंभिक मध्यकाल की आर्थिक व्यवस्था की कम से कम तीन मुख्य विशेषताएँ बताएँ।

16.3.3 समाज

आरंभिक मध्यकाल के संक्रमण के सिलसिले में अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनों को रेखांकित किया गया है। इन परिवर्तनों को जाति-व्यवस्था के संघटन, स्वरूप और क्षेत्र-विस्तार तथा इसके अंतर्गत नारियों की स्थिति में माध्यम से अधिक बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। जैसा कि आप जानते हैं, जाति-व्यवस्था में प्रत्येक जाति एक इकाई है। किसी जाति का सदस्य अपनी ही जाति के भीतर वैवाहिक संबंध स्थापित करता है। प्रायः अनेक जातियाँ किसी क्षेत्र-विशेष में हैसियत और पेशे में समान लोगों से मिलकर एक समूह का निर्माण करती हैं और ये समूह चतुर्वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-के अंग बन जाते हैं। इस शृंखला में निम्नतम स्तर अस्पृश्य होते हैं जिन्हें वर्ण-व्यवस्था से बाहर और निम्न स्थिति में रखा जाता है।

प्रारंभिक मध्यकाल के दौरान जातिगत समाज और सामाजिक परिवर्तन की दिशा को समझने के लिए स्रोतों के सावधानीपूर्वक विश्लेषण की आवश्यकता होती है। इन श्रेणियों के सन्दर्भ में जाति और वर्ण शब्द का बारंबार प्रयोग नहीं किया जाता है। इन शब्दों के सटीक प्रयोग को हर बार सुनिश्चित किया जाता है। अपने आप में एक ग्रंथ एक स्थिर समाज की छवि बता सकता है लेकिन यह परिवर्तनों के अध्ययन में उपयोगी स्रोतों की तुलनात्मक समीक्षा द्वारा ही संभव है।

प्रारंभिक मध्यकालीन भारत के साक्ष्यों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राजकीय समाज-राज्यों और साम्राज्य का समाज, जो कुल मिलाकर आखेटकों-संग्राहकों और बीलों के जाति विहीन समाजों से भिन्न था-का खासा विस्तार हो रहा था। प्रथमतः भारी संख्या में उपमहादेश से बाहर के अप्रवासी-हुण, गुर्जर, इत्यादि-यहाँ अपने उपनिवेश बसा रहे थे। गुर्जर, जो वर्तमान गुजर समुदाय के पूर्व थे, मुख्यतः पश्चिम और उत्तर-पश्चिम भारत में फैल गए प्रतीत होते हैं। इस काल में कुछ क्षेत्रों में गुर्जर समाज की मूल संरचना का क्रमिक रूपांतरण हो रहा था, क्योंकि इस काल के अंत में हम न सिर्फ़ इनके एक छोटे वर्ग को शासकों (गुर्जर-प्रतिहार के रूप में अपितु शेष का भी कृषक-वर्ग के रूप में अभ्युदय पाते हैं। हूणों को परंपरागत छत्तीस क्षत्रिय गोत्रों में से एक के रूप में स्वीकृति में काफ़ी समय लगा। इनके अतिरिक्त, संभवतः अन्य जातियाँ भी थीं। उदाहरण के लिए कलचूरियों को ले सकते हैं, जो एक महत्वपूर्ण राजनीतिक हस्ती थे और जिन्होंने कलचूरी-चेदि संवत भी चलाया था। ये ऐसे ही अप्रवासी माने जाते हैं और 'कलचूरी पद तुर्क उपाधि' कलचूर से व्युत्पन्न बताया जाता है।

भारत का एक बड़ा भाग जंगलों से भरा पड़ा था जिसमें पशुचारिता और आदिम कृषि-कार्य करने वाले छोटे, बिखरे हुए आखेटकों-संग्राहकों और कबीलों के समूह निवास करते थे। उदाहरणस्वरूप, ह्वेनसांग ने दक्षिणी आंध्र प्रदेश को बटमारों से पीड़ित विरल आबादी वाला जंगली क्षेत्र बतलाते हुए ऐसे मूल निवासियों से भरा एक जंगली क्षेत्र का जिक्र किया है जो स्थिर जीवन नहीं बिताते थे और जिनकी वैध आजीविका लूटपाट थी। इसी प्रकार, उत्तर-पश्चिम के एक विस्तृत देश का हवाला देते हुए वह वहाँ ऐसे लोगों की उपस्थिति का जिक्र करता है जो सिर्फ़ पशुचारिता के द्वारा जीवन-यापन करते बताए गए हैं, जो बड़े युद्ध प्रिय हैं, और जिनका कोई स्वामी नहीं होता, और जो पुरुष हों या नारी, न कोई अमीर हैं, न गरीब। मूल निवासी समुदायों में कई जाति-व्यवस्था पर आधारित समाज के सदस्यों के साथ नियमित संपर्क में थे और तत्कालीन साहित्यिक कृतियों, जैसे-दंडिन की 'दशकुमारचरित' और बाणभट्ट की 'कादंबरी'-में उनके जीवन के विशद विवरण प्रस्तुत किए गए हैं, भले ही वे पूर्णतः निष्पक्ष नहीं हैं।

मूल निवासियों में से भी अनेक जातीय समाज में शामिल किए जा रहे थे, कुछ तो पूर्णतः और कुछ आंशिक रूप में। उदाहरणस्वरूप, 'शबारा' नाम एक कबीला या कई कबीलों के लिए प्रारम्भिक मध्यकाल के बाद तक चलता रहा।

हमारे विभिन्न स्रोतों में एक शबाराणुप, उदयन, के संस्कृत नाम से संकेतित होता है कि शबारा लोगों का एक वर्ग जातीय समाज में घुल-मिल गया था। आमतौर पर किसी कबीले के अधिकांश सदस्य शूद्र वर्ण की जाति में (कुछ अछूतों में भी) शामिल हो जाते थे, जबकि कोई कबीला सरदार साधन-संपन्न होने पर अपने और अपने नजदीकी रिश्तेदारों के लिए क्षत्रिय की हैसियत का दावा कर सकता था।

जातीय समाज भी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक-विचारात्मक परिवर्तनों के अनुकूल अपने को बदल रहा था। इसका एक रोचक उदाहरण है कायस्थ कहे जाने वाले पेशेवरों का एक जाति का स्वरूप ग्रहण करना। महत्वपूर्ण अधिकारियों के रूप में कायस्थों का अभ्युदय गुप्त काल से शुरू होता है। उपलब्ध स्रोतों से पता चलता है कि यह वर्ग अनेक समुदायों, जिनमें कबीले (विशेषकर कर्ण) भी शामिल थे, से आता था। गुप्त और गुप्तोत्तर काल के शिलालेखों में बंगाल में बड़ी संख्या में ब्राह्मणों के नाम में वस्तु, घोष, दत्त इत्यादि प्रत्यय जुड़े मिलते हैं जो अब ब्राह्मणों के बदले बंगाली कायस्थों के उपनाम हो गए हैं। इस क्षेत्र के ब्राह्मणों में इन उपनामों के अभाव से पता चलता है कि यह मामला निम्नवर्णों द्वारा ऊर्ध्वगमन के प्रयास में अपने से उच्चतर लोगों के उपनाम ग्रहण करने का नहीं, वरन ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर परिवारों का अपने पितृ कुल से हटकर कायस्थों की जाति में विलय का मामला था। दूसरे शब्दों में, जब पदाधिकारियों के पेशे से जुड़े लोगों के परिवार अपनी मूल जातियों या कबीलों के बदले आपस में ही वैवाहिक संबंध स्थापित करने लगे तो कायस्थ जाति का अभ्युदय हुआ।

जैसा कि आप जानते हैं, प्रत्येक वर्ण विशिष्ट कार्यों से जुड़ा था। उदाहरणार्थ, राजकीय कार्य ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित थे। इतिहासकारों ने इस विषय में संक्रमण काल के एक विशिष्ट परिवर्तन का उल्लेख किया है जो ब्राह्मण-ग्रंथों में उल्लिखित और विदेशी पर्यवेक्षकों द्वारा भी अभिप्रमाणित है। कृषि, जो पहले सामान्य: वैश्यों का कार्य मानी जाती थी, अब तेज़ी से शूद्रों का धंधा बनती गई। फिर भी इतिहासकारों द्वारा इसकी कोई सर्वमान्य व्याख्या नहीं की गई है। इस संबंध में तीन प्रकार के मत व्यक्त किए गए हैं। प्रथम, यह शूद्रों की स्थिति में अभूतपूर्व तरक्की का द्योतक है। दास, भृत्य और कृषि-श्रमिक से आगे निकलकर वे अब वैश्यों की भांति भूमिधर किसान बन जाते हैं। द्वितीय, यह व्यापक भूमि-अनुदान के परिणामस्वरूप कृषक-वर्ग की स्थिति में विकास का सूचक हो सकता है। कहा जाता है कि वैश्य किसानों का मान इतना घट गया कि वे शूद्रों से अभिन्न समझे जाने लगे। इसकी तीसरी व्याख्या यह कहकर की जाती है कि यह कबीलाई लोगों का शूद्र कृषकों के रूप में जातीय समाज में अंतर्लीनीकरण की घटना थी। सहज अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि हमारे स्रोतों के ये विभिन्न प्रकथन इन निष्कर्षों को इस तरह सारांशबद्ध करते हैं जिनकी सम्यक व्याख्या अब तक नहीं हो पाई है। दरअसल, वर्ण सिद्धांत में आए इस बदलाव का ऐतिहासिक यथार्थ के साथ पारस्परिक संबंध की समस्या, खासकर प्रथम दो निष्कर्षों का परस्पर-विरोधी स्वरूप अब तक इतिहासकारों द्वारा आंका नहीं गया है और इसका हल किया जाना बाकी है।

लगभग तीसरी सदी से लेकर गुप्तोत्तर सदियों तक अस्पृश्यता के इतिहास में अनेक घटनाएँ घटित होती हैं। वैसे इसका चलन पहले भी था, लेकिन 'अस्पृश्य' पद का प्रयोग इसी अवधि में पहली बार हुआ है। अस्पृश्य जातियों की संख्या, विशेषकर आदिवासी समूहों के जातीय समाज में अन्तर्लीनीकरण के कारण, बहुत बढ़ गई। फिर भी, चांडाल और खपच इनमें विशिष्ट रहे। इन लोगों के दयनीय जीवन ने स्तब्ध विदेशी पर्यवेक्षकों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचा। पहले तो गुप्तकाल में फाहियान का ध्यान इस ओर गया। आगे चलकर सातवीं सदी में ह्वेनसांग ने टिप्पणी की : कसाइयों, मछुआरों, नट-बाजीगरों, जल्लादों और सफाई-कर्मियों के निवास-स्थान का चिह्न ही अलग है। वे नगर के बाहर रहने के लिए बाध्य हैं और पल्लियों में जाते समय वे बाईं ओर खिसक जाते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुलामी-प्रथा बिना किसी खास परिवर्तन के चलती रही। ऐसा निष्कर्ष इस विषय पर शास्त्र कहे

जाने वाले विधि-विषयक प्रतिपादन से निकाला जा सकता है। गुप्तकालीन रचना में इस विषय का विवेचन उसी रूप में हुआ है जिस रूप में बारहवीं सदी की रचना 'मिताक्षरा' में, जो परिवर्तनों को दर्ज करने का प्रसिद्ध दस्तावेज़ है।

अन्य सामाजिक समुदायों की भांति नारियों की स्थिति आरंभिक मध्यकाल के संक्रमण के दौरान अपरिवर्तित नहीं रही। जो परिवर्तन परिलक्षित होते हैं उनका संबंध मुख्य रूप से समाज के उच्च वर्ग की नारियों से था। हां, इतना अवश्य सही है कि ये परिवर्तन सर्वत्र एक-सा नहीं हुए। ब्राह्मणों ने नारियों की स्थिति दोयम दर्जे की बनने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। उन्होंने उनकी स्वतंत्रता पर पूरी पाबंदी लगा दी। जिस प्रकार चांडालों और खपचों (कुत्तों को पका कर खाने वाले) को खानों और गर्दभों की श्रेणी में रखा जा रहा था वैसे ही नारियों को संपत्ति अथवा क्षुद्र की श्रेणी में रखने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। रजस्वला होने के बाद उनका विवाह निंदनीय माना जाता था। एक महाशय ने तो यह भी विधान कर डाला कि विवाह के समय वधू की आयु वर की आयु की एक-तिहाई होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में पत्नियां अपने पतियों के देहावसान के बाद भी लंबे समय तक जीवित रहतीं, इसलिए विधवाओं के जीवन को संयमित करने हेतु विस्तृत प्रावधान किए गए। इनमें एक विकट प्रावधान था सती होने का, अर्थात् पत्नी को अपने मृत पति के शव के साथ चिता पर जलकर मर जाने का प्रावधान अथवा यदि पति का देहांत पहले हो चुका हो तो पत्नी को भी अपना जीवन नष्ट कर लेना चाहिए, जैसा कि हर्ष की बहन राज्यश्री ने करने का प्रयास किया था, यद्यपि सती प्रथा पूर्व में भी अज्ञात नहीं थी, लेकिन आरंभिक मध्यकाल में इसने जोर पकड़ लिया और उनके ढेर-सारे उदाहरण मिलने लगे। फिर भी, इस प्रथा का अनुमोदन ब्राह्मणवाद में भी सर्वव्यापी नहीं था। उस समय के अग्रणी साहित्यकार बाणभट्ट और शूद्रक ने इसकी तीखी आलोचना की और तांत्रिकवाद ने तो इसे घोर पाप कर्म घोषित कर दिया।

उच्च वर्ण की नारियों की सामाजिक स्थिति का कैसा अवमूल्यन हुआ, इसका एक सामान्य संकेत है विवाहोपरांत नहीं प्राक-वैवाहिक पहचान का विलोपन। गुप्तकाल तक इस बात का साक्ष्य मिलता है कि विवाह के बाद नारी अपने गोत्र की पहचान और पितृ निर्धारण को नहीं खोती थी लेकिन उसके बाद ऐसे विवाह 'धीरे-धीरे, कम-से-कम सामान्य लोगों में, प्रचलन से बाहर' हो गए प्रतीत होते हैं।

आरंभिक मध्यकाल में नारियों की सामाजिक स्थिति में थोड़ा 'सुधार' इस तथ्य से समझा जाता है कि उन्हें, शूद्रों की भांति, कुछ धार्मिक ग्रंथों के पाठ सुनने और देवताओं को पूजने की अनुमति मिलती थी। लेकिन, उनकी यह धर्मपरायणता उनके जीवन को बेहतर बनने के लिए नहीं, ब्राह्मणवादी धर्मों को सुदृढ़ करने और अनुष्ठानिक पुरोहितों की आय बढ़ाने के लिए ही अभिप्रेत प्रतीत होती है। 'श्रीधन'-वह धन जो नारियाँ उपहार में पाती थीं-की सीमा और मात्रा में वृद्धि भी उन्हें पुरुषों की तुलना में सशक्त नहीं बना पाता था, क्योंकि इससे उनकी असहायता और पुरुषों पर निर्भरता में कोई फ़र्क नहीं पड़ता था। यह सही है कि कुछ अधिकारी व्यक्तियों ने विधवा अथवा पुत्रहीन मरणासन्न व्यक्ति की पुत्री को दायभाग दिलाने का प्रयास किया, लेकिन वास्तविक ऐतिहासिक उदाहरणों से जाहिर होता है कि आरंभिक मध्यकालीन राजाओं ने, जो मुट्टीभर विशेष सुविधा-प्राप्त लोगों को छोड़कर ऐसे व्यक्तियों की संपत्ति को जब्त कर लेते थे, ऐसे निर्देशों की उपेक्षा कर दी। लेकिन, यह प्रावधान भी विधवा पुनर्विवाह और सती प्रथा के समर्थन की भांति शूद्र वर्ण की नारियों पर लागू नहीं होता था। वास्तव में, जैसा कि पूर्ववर्ती और पश्चवर्ती कालों में हुआ, श्रमिक वर्ग की नारियाँ, जो अपने जीवनयापन के लिए खेतों, चारागाहों इत्यादि में मर्दों के साथ काम करती थीं, उस दमन और असहायता की स्थिति में नहीं थीं जो विशेष सुविधा-प्राप्त वर्ग की नारियों की नियति बन गई थी।

16.4 संस्कृति

आरंभिक काल के दस्तावेज़, चाहे वे साहित्यिक हों या स्मारकीय, विविध स्वरूप वाली सांस्कृतिक गतिविधियों के

संपन्नतम, जीवंततम और स्पष्टतम स्रोत हैं। इनको सही ढंग से समझने का सर्वोत्तम उपाय है इनका साक्षात्करण अर्थात् स्मारकों को देखना और साहित्य को पढ़ना और इनके संक्रमणकालीन पहलुओं की अपेक्षा रंगीन सचित्र आख्यानो का अवलोकन करना। फिर भी, ऐसे अनुसंधान हमें उस युग की सर्जनात्मक-सौंदर्यपरक-वैज्ञानिक उपलब्धियों को सही ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखने में मदद करते हैं, हमारी भावप्रवणता को समृद्ध करते हैं और इसलिए स्मारकों के निरीक्षण अथवा साहित्य के अध्ययन में बहुत उपयोगी होते हैं। इन क्रियाकलापों के विभिन्न पहलुओं पर उच्चस्तरीय तकनीकी और भारी-भरकम सामग्रियाँ उपलब्ध हैं, लेकिन यहाँ हम सीमित स्थान में हम कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का ही उल्लेख करेंगे।

16.4.1 भाषायी विकास

आरंभिक मध्यकाल अनेक भाषाओं के विकासक्रम का काल है। प्रथमतः लगभग 600 ई. से मध्य भारतीय-आर्य भाषाओं के तीसरे चरण अर्थात् प्राकृत का उद्भव और विकास शुरू होता है (पुराने भारतीय-आर्य भाषाओं में पुरातन और वैदिक संस्कृत शामिल हैं)। मध्य भारतीय-आर्य भाषाओं के इस तीसरे चरण को भाषाविदों ने अपभ्रंश की संज्ञा दी है। इसी से हिंदी और मराठी जैसी नई अथवा आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाएँ दसवीं सदी से विकसित होने लगीं। द्वितीयतः संस्कृत साहित्य और धर्म की भाषा तो थी ही, राज्यों की कार्यालयी भाषा और दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के संपूर्ण सांस्कृतिक क्षेत्र के पार-प्रांतीय संप्रेषण के माध्यम के रूप में भी इसका विकास जारी रहा। प्रारम्भिक मध्य काल में जैन भी संस्कृत के पक्ष में अपनी अर्द्ध-मागधी प्राकृत भाषा को त्याग रहे थे। संस्कृत के विधि-विषयक साहित्य के इतिहास में यह अवधि एक ऐसी विभाजक रेखा है जिसमें अंतिम स्मृति 'काव्यायन स्मृति' की रचना हुई और जिसके अंतिम दौर में इन स्मृतियों पर संस्कृत भाष्यों की महान परंपरा का श्रीगणेश हुआ जिसमें नारद स्मृति पर असहाय का भाष्य प्रथम था।

तृतीयतः साहित्यिक भाषा के रूप में कन्नड़ और तेलुगु के आधारों के साथ तमिल का लगातार विकास हो रहा था। तमिल के विकास को भक्ति आंदोलन से भारी बढ़ावा मिला। यद्यपि ऐसी कोई कृति विद्यमान नहीं है जो उस काल की मानी जा सके, फिर भी उत्कीर्ण लेखों और बाद के साहित्यिक आलेखों से पता चलता है कि राजकीय संरक्षण और शाही सहयोग के बल पर कन्नड़ एक साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हो रही थी। उदाहरणस्वरूप दुर्विनीत, जो इस भाषा का प्रसिद्ध साहित्यकार माना जाता है, संभवतः छठी सदी में दक्षिणी कर्नाटक का गोग राजा था। जहाँ तक तेलुगु का प्रश्न है, 'जनाश्रय छंद' नामक छंदशास्त्र पर आरंभिक ग्रंथ के कुछ अंशों की खोज से प्रबल संभावना बनती है कि साहित्यिक भाषा के रूप में इसका अभ्युदय उतना ही पूर्व में हुआ होगा जितना पहले ईसा की पाँचवीं और छठी सदी के शिलालेखों में तेलुगु शब्दों के उपयोग का प्रथम संकेत मिलता है।

16.4.2 धर्म

धर्म के क्षेत्र में पौराणिक मंदिर-आधारित ब्राह्मण-संप्रदाय, जिनके स्वरूप और अभ्युदय की चर्चा पूर्व के पाठों में हो चुकी है, लगातार तरक्की पर थे। इनमें वैष्णव और शैव संप्रदाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। शाही संरक्षण के साक्ष्य को संकेतक मानते हुए कहा जा सकता है कि शैव संप्रदाय इस काल में वैष्णव संप्रदाय से आगे चल रहे थे।

दक्षिण तमिल में भक्ति आंदोलन का ज़बरदस्त बोल-बाला था। किसी देवता के प्रति भक्ति का भाव इस काल में अभूतपूर्व भावनात्मक तीव्रता से ओतप्रोत था और एक शक्तिशाली धार्मिक आंदोलन का केंद्र बन गया। नयनार कहे जाने वाले शैवसंत और अलवर कहे जाने वाले वैष्णव संत दोनों इसके प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने अपने संप्रदाय के प्रसार के लिए व्यापक यात्राएँ की, प्रतिद्वंद्वियों के साथ विवाद किया, गीत गाए, नृत्य किया और अपने देवताओं की

स्तुति में सुंदर गीतों की रचना की। उन्होंने राजाओं और सामान्य जनों को अपने पंथ में धर्मान्तरित किया और अन्य पंथों की भर्त्सना करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया। भक्ति-भावना ने लोगों की धार्मिक आकांक्षाओं को पूरा करने के अतिरिक्त अन्यायपूर्ण जातीय व्यवस्था की कठोरता को भी कम किया और प्रजा जन में राजाओं के प्रति भी अंध-भक्ति की भावना भर दी।

बौद्ध धर्म, जो गुप्तकाल से राजकीय कृपा से धीरे-धीरे वंचित होता जा रहा था, के कुछ क्षेत्रों में स्पष्ट विकास देखने को मिलता है। फिर भी अन्य अनेक क्षेत्रों में इसने अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाए रखी। पश्चिम में सौराष्ट्र के मैत्रक राज्य ने लगभग एक शताब्दी तक बौद्ध धर्म को अत्यंत उदार संरक्षण प्रदान किया, और पूरब में नालंदा बौद्ध शिक्षा के सारे केन्द्रों में अति विशिष्ट केंद्र के रूप में प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच गया और इस धर्म के साथ विक्रमशिला, उदंतपुरी और सोमपुरा जैसे कुछ अन्य केंद्र भी जुड़ गए। गुजरात और राजस्थान के क्षेत्रों में जैन धर्म की घटती राजकीय सहायता के बावजूद अपनी लोकप्रियता बनाए रहा।

दक्षिण में ही दोनों धर्मों ने ब्राह्मणवाद के सामने घुटने टेक दिए, हालांकि कन्नड़ क्षेत्र जैनों का गढ़ बना रहा। आरंभिक मध्यकाल में इन दोनों धर्मों (बौद्ध और जैन) और ब्राह्मण धर्म के बीच लंबे समय तक प्रतिद्वंद्विता और उत्पीड़न का दौर जारी रहा, हालांकि कुछ विद्वानों ने ऐसा मानने से इनकार किया है और धार्मिक सहिष्णुता एवं सामंजस्य की बात की है। निस्संदेह इन शताब्दियों में ऐसे कई राजा हुए जिन्होंने सभी धर्मों के प्रति समान आदर का भाव रखा लेकिन ऐसे भी राजा थे जो असहिष्णुता और कट्टरता की प्रतिमूर्ति थे। उदाहरणस्वरूप, दक्षिण भारतीय जैन धर्म पर आरंभिक अध्ययनों में एम.एस. रामास्वामी अयंगर और बी. शेषागिरी राव (1922) द्वारा किया गया कार्य एक उदाहरण जिसका निम्नलिखित उद्धरण लिया जा सकता है जो उस क्षेत्र में इस धर्म के पतन के संबंध में प्रामाणिक दृष्टिकोण प्रतिबिंबित करता है और जिसके संबंध में इतिहास के विद्यार्थी इन दिनों अनभिज्ञ जान पड़ते हैं।— “दक्षिण भारत में विकृत मूर्तियों, परित्यक्त गुफाओं और नष्ट मंदिरों के विपल अवशेष हमें बीते दिनों के धर्म की महानता और ब्राह्मणों, जिन्होंने इनको मिटाने के भरसक प्रयत्न किए, के आध्यात्मिक विद्वेष की याद ताजा कर देते हैं। जैनों को विस्मृत कर दिया गया है, उनकी परंपराओं की अनदेखी कर दी गई है, लेकिन दक्षिण में जैन धर्म और हिन्दू धर्म के बीच चले कटु संघर्ष के हिंसक वृत्तांत की याद को मदुरै के प्रसिद्ध मीनाक्षी मंदिर के स्वर्णिम लिलि टैंक के मानतापम के भित्ति चित्रों की शृंखला हमेशा ताजा कर देती है... जैसे यह पर्याप्त नहीं हो... संपूर्ण त्रासदी मदुरै मंदिर के बारह वार्षिक उत्सवों में से पांच में अनुभव की जा सकती है”।

तांत्रिकवाद पूरे उपमहादेश में धार्मिक जीवन की प्रमुख विशेषता बनता जा रहा था। तांत्रिकवाद ने नारी दैवी-शक्ति, जिसे आमतौर पर बौद्ध धर्म में तारा और ब्राह्मण धर्म में शक्ति या देवी कहा जाता था, को रहस्यमय विश्वासों और ऐंद्रजालिक अभ्यासों के समूह से जोड़ दिया। तांत्रिक धर्म का सजीव चित्रण ‘हर्षचरित’ में देखा जा सकता है जहाँ दक्षिण का एक संन्यासी हर्ष के पूर्वज पुष्पभूति के लिए तांत्रिक अनुष्ठान करता है। संन्यासी मातृ के एक पुराने मंदिर के समीप रहता था और कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात में ‘एक वृहत श्मशान भूमि’ के समीप एक खाली घर में शव के मुख में अग्नि-संस्कार करता था।

संक्रमण के इस काल में धार्मिक जीवन की अन्य विशेषताओं में एक थी पश्चिमी तट पर और सिंध में इस्लाम का आगमन और दूसरी विशेषता थी आरंभिक छठी सदी में ईसाई समुदायों का पश्चिमी तट पर मालाबार और कुछ अन्य स्थानों से आठवीं सदी तक प्रायद्वीप के पूर्वी तट तक फैलाव।

दर्शनशास्त्र, वाद-विवाद एवं विमर्शों के द्वारा फलता-फूलता रहा। जैसा कि जानते हैं, ब्राह्मणवाद के छह महत्वपूर्ण

दार्शनिक विचारधाराओं के अतिरिक्त तीन गैर-ब्राह्मणवादी नास्तिक विचारधाराएँ भी थीं- बौद्ध, जैन और चार्वाक। चार्वाक की कोई रचना उपलब्ध नहीं है और उनके मत को हम दूसरों के द्वारा खंडन से ही जान पाए हैं। इस विचारधारा का एक महत्वपूर्ण प्रतिनिधि था पुरंदर, जो संभवतः सातवीं सदी में था। उसके बारे में कहा जाता है कि उसने अपनी दार्शनिक विचारधारा पर कई ग्रंथ लिखे। उसी सदी में श्रेष्ठ बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति हुए। वेदांत दर्शन में गौड़ पाद हुए जो शंकराचार्य के परम गुरु माने जाते हैं। मीमांसा दर्शन के कुछ महान विचारक जैसे शाबर, प्रभाकर और कुमारिल, भी इसी काल में हुए।

16.4.3 कला और स्थापत्य

प्रस्तर स्थापत्य के दो प्रमुख रूप थे-शैल निर्मित और संरचनात्मक। शैल स्थापत्य से शैल से वास्तुशिल्प और निर्माण बोध होता है। ये शैल निर्मित मंदिर और मठ आमतौर पर पहाड़ियों और खड़ी चट्टानों में कृत्रिम गुफाओं जैसे प्रतीत होते हैं। ये 'संरचनात्मक' स्थापत्य, जो प्रसाधित प्रस्तर (अथवा ईंट) से बने सीधे खड़े ढांचे के द्योतक हैं, से भिन्न थे। यदा-कदा ये दोनों रूप एक साथ जुड़ जाते थे लेकिन आमतौर पर वे पृथक ही होते थे और उन दोनों के कालक्रम का विस्तार भी अलग-अलग है। शैल स्थापत्य, जो अपनी लंबी कालावधि में वास्तव में अखिल दक्षिण एशियाई परिघटना थी, का आरंभ मौर्यकाल में हुआ लेकिन इसका सर्वाधिक सक्रिय दौर अजंता और एलोरा से आरंभ होकर लगभग पाँचवीं सदी के मध्य तक रहा। आरंभिक मध्यकाल के अंत तक भारतीय कला के इतिहास में शैल स्थापत्य के महान युग का अंत हो रहा था, यद्यपि इसकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि- एलोरा में कैलाशनाथ मंदिर का निर्माण- इस काल के तुरंत बाद हुआ। इन्हीं शताब्दियों में प्रस्तर और ईंट के संरचनात्मक भवनों का निर्माण प्रभावी ढंग से आरंभ हुआ लेकिन संरचनात्मक मंदिरों का भव्य और पुरातन दौर शैल स्थापत्य के अंत हो जाने के बाद ही शुरू हुआ। सच पूछा जाए तो इन शताब्दियों में निर्माण के ये दोनों रूप घुले-मिले थे। इसका अपवाद था पल्लवों के अधीन का दक्षिण भारत जहाँ संरचनात्मक निर्माण का दौर आठवीं सदी में तभी शुरू होता है जब सातवीं सदी में शैल स्थापत्य का अंत हो जाता है।

जब कलाकारों ने काष्ठ के आदि प्ररूपों का अनुकरण करना बंद कर अपना ध्यान अभिकल्प और उसके प्रस्तुतीकरण पर केंद्रित कर दिया तो स्थापत्य-कला में भारी प्रगति हुई, जैसा कि अजंता और एलोरा के उत्कृष्ट उदाहरणों से प्रमाणित होता है। कुछ उदाहरणों के संबंध में कहा गया है, 'किसी भी अन्य उदाहरण की तुलना में रेखाएँ अधिक सीधी हैं, कोण अधिक सटीक हैं, और तलें अधिक सही हैं। इसके अतिरिक्त, एलोरा के दो मठ शैल संरचना वाली कला के एकमात्र उदाहरण हमें उपलब्ध हैं। छठी सदी के लगभग अंत तक बौद्ध धर्म स्थापत्य के शैल-निर्मित स्वरूप का प्रमुख प्रतिनिधि था और ब्राह्मणवाद उसके बाद। हालांकि जैन धर्म ब्राह्मणवाद के बाद धीरे-धीरे अधिक महत्वपूर्ण होता गया। विभिन्न धर्मों के प्रति संबद्धता के बावजूद स्थापत्य शैली कुछ अनुष्ठानिक उद्देश्यों के अनुकूलन को छोड़कर सामान्य बनी रही।

प्रस्तर अथवा ईंट से बने स्वतंत्र रूप से खड़े ढांचों के उदाहरण पूर्वकाल से ही ज्ञात रहे हैं। आरंभिक मध्यकाल की एक उल्लेखनीय घटना थी मध्ययुग के विशिष्ट ब्राह्मणीय मंदिरों का विकास। मध्यकालीन अनेक विशेषताओं से युक्त नमूनेदार ढांचे थे। यह प्रक्रिया लगभग छठी सदी के प्रवेश के साथ शुरू हुई जब गुप्तकाल के गर्भगृहों की सपाट छतों पर शिखर कहा जाने वाला टावर जोड़ा गया। ऐसे संयोजन के प्राचीनतम उदाहरण कानपुर के निकट भीतरगांव (ईंट निर्मित) और झांसी के निकट देवगढ़ तथा बादामी के निकट ऐहोल (प्रस्तर निर्मित) में मिले हैं। शेष विशेषताएँ धीरे-धीरे लगभग 740 ई. तक जोड़ी जाती रहीं जब हम कांचीपुरम में वैकुंठनाथ पेरुमल वेदी पर मध्यकालीन मंदिर के सारे मानक गुणों का मेल पाते हैं। विकास की गति अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रही। उदाहरणस्वरूप विकास-क्रम में एक

महत्वपूर्ण चरण था 'मंडप' कहलाने वाला स्तंभों पर आधारित सभा कक्ष का अंतराल के नाम से ज्ञात ड्योढ़ी के द्वारा मंदिर के साथ संयोग। 700 ई. तक इसका चलन आम नहीं हो सका था क्योंकि मम्मलपुरम के तटीय मंदिर और कांचीपुरम के कैलाशनाथ दोनों में इसका अभाव है (यही कैलाशनाथ मंदिर एलोरा के मंदिर-निर्माण का प्रेरणा-स्रोत था)।

मूर्तिकला

मूर्तिकला में पूर्णतः गोलाकार आयतन पर जोर देने की पुरातन परंपरा कमोबेश चलती रही। मध्यकालीन शैली, जिसमें गोलाकार आयतन और चिकनी उत्तल रेखाओं का स्थान सपाट तलों और तीखे वक्रों ने ले लिया, के उदाहरण छिटपुट रूप में यदा-कदा देखे जा सकते हैं, जैसा कि सारनाथ में धामेक स्तूप पर छठी सदी की चित्रावल्लरी से पता चलता है, लेकिन यह शैली बाद की अवधि तक स्वतंत्र रूप नहीं ले सकी और उसके बाद भी यह कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रही।

चित्रकला

चित्रकला के साथ भी यही बात लागू होती है। यह इस काल के आरंभ तक पूरी तरह विकसित हो चुकी थी और कश्मीर का एक समकालीन ग्रंथ 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' इसके विविध पक्षों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। साहित्यिक संदर्भ दर्शाते हैं कि उस काल में निजी आवासों, शाही महलों और धार्मिक स्थानों की दीवारों और छतों पर विभिन्न प्रकार की चित्रकारियों के साथ-साथ वस्त्रों पर खींची गई तस्वीरों की लोकप्रिय पोर्टेबल गैलरी भी होती थीं। फिर भी, इस काल की चित्रकारियों के अनेक उदाहरण अभी भी विद्यमान हैं लेकिन वे सारे के सारे धार्मिक प्रतिष्ठानों के भित्ति-चित्र है। सबसे सुरक्षित नमूने हैं मध्यप्रदेश में बाग, अजंता और बादामी की बौद्ध गुफाएँ (शैल-निर्मित बड़े कमरे), तमिलनाडु में सित्तनवासल में सातवीं सदी का शैल-निर्मित जैन मंदिर (विद्यमान चित्रकारियों का एक अच्छा-खासा हिस्सा नौवीं सदी का बताया गया है), और कांचीपुरम में सातवीं सदी का शैव कैलाशनाथ मंदिर। भारत से बाहर श्रीलंका में सिगिरि में इसके सुंदर उदाहरण मिलते हैं। पुरातन चित्रकला की परंपरा इन सब और अन्य मामलों में पूरी सातवीं सदी और उसके बाद तक चलती रही। पुरातन शैली में प्रकाश-छाया-चित्रण जैसी अनेक तकनीकों के उपयोग के द्वारा तीन आयामी चित्रण का प्रयास किया गया। फिर भी, इन सारी शताब्दियों में मध्यकालीन शैली, जो अनेक क्षेत्रों में पाँव पसारने वाली थी, भी विकसित हो रही थी। आठवीं सदी की एक एलोरा चित्रकारी में जिस पूर्णता के साथ प्रकट होती है उससे पूर्व में इसके दीर्घकालीन विकास का संकेत मिलता है। स्थापत्य कला की भांति चित्रकला में भी पुरातन और मध्यकालीन शैलियाँ इस काल के बाद दक्षिण एशिया में साथ-साथ चलने वाली थीं।

16.5 विज्ञान के क्षेत्र में विकास

16.5.1 गणित और खगोल शास्त्र

विज्ञान के क्षेत्र में ब्रह्मगुप्त इस काल के सर्वोत्कृष्ट व्यक्तित्व हैं। उन्होंने गणित में अनेक बहुमूल्य योगदान किए। वह नकारात्मक संख्याओं (शून्य से भी कम) को मान्यता देने वाले विश्व के प्रथम गणितज्ञ थे। इन्हें उन्होंने ऋण के रूप में और भावात्मक संख्याओं को 'धन' के रूप में प्रस्तुत किया। अन्य दृष्टियों से भी वह अपने युग के गणितज्ञों से आगे थे। उदाहरणस्वरूप, पाइथागोरस के प्रमेय को प्रमाणित करने की उनकी विधियों में से एक से पश्चिमी जगत सत्रहवीं सदी तक अनभिज्ञ रहा। उस काल में खगोल-विज्ञान गणित से गहरे रूप से जुड़ा था और 'गणक' पद गणितज्ञों और खगोलविदों दोनों के लिए प्रयुक्त होता था। अपने उतने ही प्रतिष्ठित पूर्ववर्ती आर्यभट्ट के समान ब्रह्मगुप्त भी एक

खगोल-शास्त्री थे। उन्होंने एक वेधशाला की स्थापना की थी और चंद्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण, गतिमान ग्रहों का एक दूसरे के साथ और तारों के साथ संबंध जैसे विषयों पर निरंतर कार्य करते रहते थे।

‘सूर्य सिद्धांत’, जिसने भारत में पाँचवीं सदी से वेदांग खगोल-शास्त्र के स्थान पर मध्यकालीन खगोल-शास्त्र को आधार प्रदान किया, में क्रमिक परिवर्तन होते रहे। इसके बाद के एक संस्करण जो 628 ई. से 960 ई. के बीच विकसित हुआ, ने भारी लोकप्रियता प्राप्त की। तमिल क्षेत्र में कतिपय संख्यात्मक विधियों के द्वारा खगोल शास्त्र की पुरानी पद्धति समानांतर परंपरा के रूप में चलती रही। यह पद्धति सूर्य सिद्धांत की त्रिकोणमितीय परंपरा से भिन्न थी। ब्रह्मगुप्त के अतिरिक्त उसका समकालीन भास्कर I और महान आर्यभट्ट का एक शिष्य लल्ला (748 ई.) उस समय के अग्रणी खगोल-शास्त्री थे।

16.5.2 चिकित्सा

आयुर्विज्ञान में वाग्भट को उस काल का अग्रणी विद्वान माना जाता है। उन्होंने पूर्व के इस विषय के विशेषज्ञों को नकार दिया। यह उल्लेखनीय है, कि वाग्भट नाम के दो आयुर्विज्ञानी हुए हैं। इनमें प्रथम ने ‘अष्टांग’ संग्रह नामक पुस्तक की रचना की। वह सातवीं सदी में चीनी तीर्थ यात्री इत्सिंग के ठीक पहले हुए। दूसरे वाग्भट ने लगभग एक शताब्दी बाद ‘अष्टांग-हृदय-संहिता’ नामक ग्रंथ लिखा। दोनों बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। इससे आयुर्विज्ञान की परंपरा के साथ बौद्ध धर्म के गहरे संबंध का पता चलता है। नालंदा और विक्रमशिला के विहारों में आयुर्विज्ञान का अध्ययन मनोयोगपूर्वक होता था।

16.6 उपसंहार

प्रस्तुत पाठ में आपने पढ़ा कि आरंभिक भारत में लगभग दो सौ वर्षों के दौरान किस प्रकार लोगों के जीवन में महत्वपूर्ण बदलाव आ रहे थे। इस पाठ में हमारा उद्देश्य अर्थव्यवस्था, शासन-व्यवस्था, समाज और संस्कृति का विस्तृत विवरण देना नहीं, इन परिवर्तनों के गति-विज्ञान को रेखांकित करना रहा है। उदाहरणस्वरूप, इन शताब्दियों में रची गई ढेर-सारी साहित्यिक कृतियों का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया गया है।

फिर भी, ऐसा मान लेना गलत होगा कि ये परिवर्तन संपूर्ण उपमहादेश में समरूप हुए। आरंभिक काल से मध्यकाल में संक्रमण विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न समय में हुए और परिवर्तन की गति भी भिन्न-भिन्न रही। ऐतिहासिक परिवर्तन संपूर्ण रूप में अथवा थोक भाव से नहीं होते। अतीत, चाहे वह कितना भी सुदूर क्षेत्र का क्यों न हो, के अवशेष किसी-न-किसी रूप में चिपके होते हैं। वैज्ञानिक डी.डी. कोशांबी वास्तव में इतिहासकारों को वर्तमान में अतीत के सुराग ढूँढने के लिए हमेशा प्रेरित करते रहेंगे। तथापि परिवर्तन के जो प्रतिमान हमने ऊपर में रेखांकित किए हैं उनसे मध्य-आठवीं सदी के भारतीय समाज को मध्य-छठी सदी के समाज से भिन्न रूप में पहचानने में मदद मिल सकती है। जैसे-जैसे आप आगे पढ़ते जाएंगे, आप देखेंगे कि परिवर्तन की प्रक्रियाएं किस प्रकार आने वाले समय में क्रियाशील रहीं।

प्रगति जाँच अभ्यास 4

क. रिक्त स्थान भरें:

- (i) ने नारी दैवी-शक्ति, जिसे आमतौर पर बौद्ध धर्म में तारा और ब्राह्मण धर्म में शक्ति या देवी कहा जाता था, को रहस्यमय विश्वासों और ऐंद्रजालिक अभ्यासों के समूह से जोड़ दिया।
- (ii) एलोरा स्थित कैलाशनाथ मंदिर का स्थापत्य का उदाहरण है।

- (iii) पाँचवीं सदी से वेदांग खगोल-शास्त्र के स्थान पर ने भारत में मध्यकालीन खगोल-शास्त्र को आधार प्रदान किया।
- (iv) दसवीं सदी से हिंदी और मराठी जैसी नई अथवा आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं का विकास से हुआ है।
- (v) आरंभिक मध्यकाल में..... पद गणितज्ञ और खगोलविद दोनों के लिए प्रयुक्त होता था जो उस काल में खगोल-विज्ञान और गणित की नजदीकियों को दर्शाता है।

16.7 सारांश

- छठी और सातवीं शताब्दी राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था, भाषा, साहित्य, लिपि और धर्म में महत्वपूर्ण बदलावों का साक्षी बना।
 - इन परिवर्तनों ने एक भिन्न सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था को जन्म दिया जिसमें जमींदारों व सामंतों का दबदबा था जो राजा और किसानों के मध्य का वर्ग था। इस वर्गों ने भारत में सातवीं सदी के समाज, धर्म, कला, स्थापत्य और साहित्य को आकार प्रदान किया।
 - इन परिवर्तनों में विभिन्न तरह के समाज और अर्थव्यवस्था जिनपर जमींदारों अर्थात् सामंतों का प्रभुत्व था ने संक्रमण का अनुभव किया।
 - तांत्रिकवाद धीरे-धीरे पूरे उपमहाद्वीप के धार्मिक जीवन का हिस्सा बनता चला गया। इसने सभी धर्मों- ब्राह्मण, बौद्ध और जैन को प्रभावित किया।
 - गुप्त काल से नई जातियों जैसे कायस्थ आदि का उदय हुआ! सातवीं शताब्दी से सभी जनजातियों और पेशेवर समूहों को ब्राह्मण समाज में नई जातियों का दर्जा दिया जाने लगा।
 - छठी शताब्दी के बाद से वहाँ व्यापार में तेजी से गिरावट आई है जो शहरों के पतन का कारण बना।
 - प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में विभिन्न दर्शनों से संबंधित महत्वपूर्ण दार्शनिक लेखन का सिलसिला जारी रहा।
- प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर**

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. विकल्प (i), (ii), (iv), और (v) सही हैं।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. (i) सही (ii) सही (iii) गलत (iv) सही (v) गलत

ख. देखें खंड 16.3.1

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. देखें खंड 16.3.2

प्रगति जाँच अभ्यास 4

क. देखें खंड 16.3.3

प्रगति जाँच अभ्यास 5

क. (i) तांत्रिकवाद (ii) Rock-cut (iii) सूर्य-सिद्धांत (iv) अपभ्रंश (v) गणक

ख. संक्षिप्त टिप्पणी:

(i) देखें खंड 16.4.2

(ii) देखें खंड 16.4.3

ग. दीर्घ उत्तरीय:

(i) देखें खंड 16.4.3

(ii) देखें खंड 16.3.1 और 16.3.2

विस्तृत अध्ययन हेतु पाठ्य-सन्दर्भ सूची

बैषम, ए. एल.	दि ओरिजिंस एंड डेवेलपमेंट ऑफ़ क्लासिकल हिंदूइज्म, दिल्ली, ओयूपी, 1991
चक्रवर्ती, रणबीर	भारतीय इतिहास: आदिकाल, नई दिल्ली, ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2012
चक्रवर्ती, रणबीर	ट्रेड एंड ट्रेडर्स इन अर्ली इंडिया, नई दिल्ली: मनोहर, 2007
चंपाकलाक्षमी, आर.	ट्रेड, आइडियोलोजी एंड अर्बनाइजेशन: साउथ इंडिया 300 ईसा पूर्व से 1300 ईस्वी, न्यू दिल्ली, ओयूपी, 2010
चटोपाध्याय, बी. डी.	मेकिंग ऑफ़ अर्ली मेडिवल इंडिया, न्यू दिल्ली, ओयूपी, 1994
देवहुति, डी. हर्ष	ए पोलिटिकल स्टडी, न्यू दिल्ली: ओयूपी, 1999
दत्त, सुकुमार	बुद्धिस्ट मोंक एंड मोनास्ट्रीज़ इन इंडिया: दियर हिस्ट्री एंड दियर कॉन्ट्रिब्यूशन टू इंडियन कल्चर, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, 1983
हंटिंग्टन, एन.	दि आर्ट ऑफ़ एन्सिएन्ट इंडिया: बुद्धिस्ट, हिन्दू, जैन, न्यूयार्क, वेदरहिल, 1985
इग्नू सिरीज़	भारत: प्राचीन काल से आठवीं सदी ई. तक
कराशिमा, एन.	ए कॉनसाइज़ हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडिया, दिल्ली, ओयूपी, 2004
शर्मा, आर. एस	भारतीय सामंतवाद
शर्मा, आर. एस	पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 2009
सिंह, उपेंद्र	प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास से पाषाण काल: 12वीं शताब्दी तक
थापर, रोमिला	पूर्वकालीन भारत: प्रारंभ से तेरहवीं सदी तक, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2008
वेलुथट, के.	द पोलिटिकल स्ट्रक्चर ऑफ़ अर्ली मेडिवल साउथ इंडिया, दिल्ली: ओरिएंट लॉन्गमेन, 2012